विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम रायपुर

आश्रम के अन्तेवासियों द्वारा वैदिक पाठ।
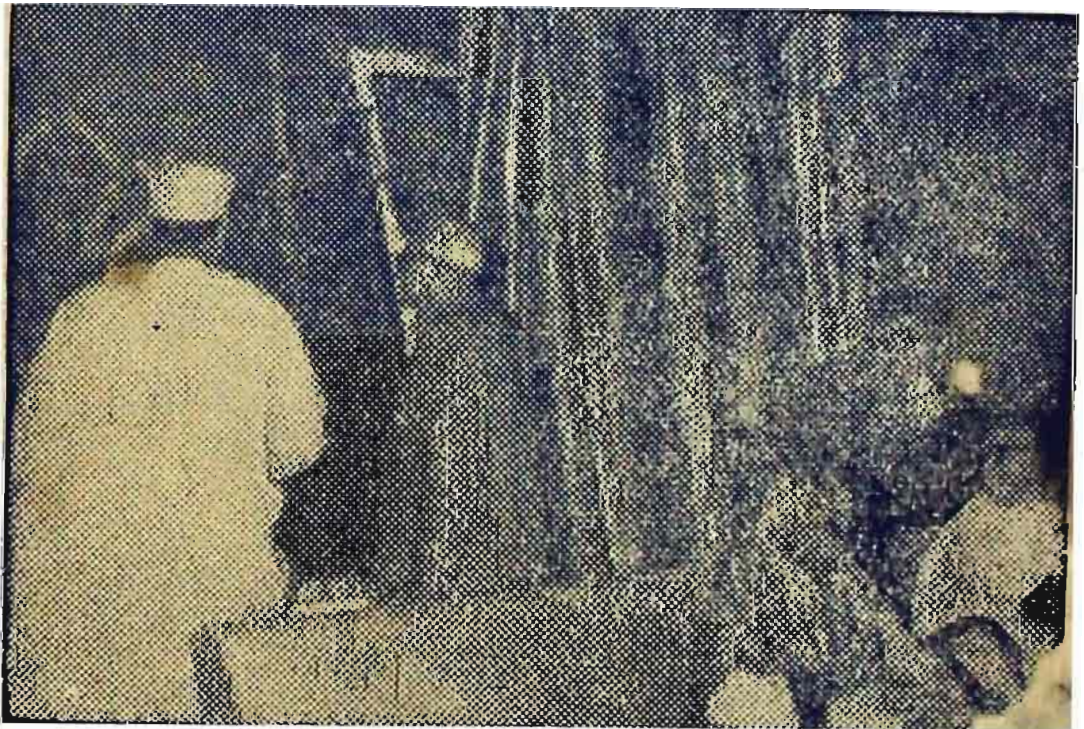
उपराष्ट्रपति श्री. जी. एस. पाठक द्वारा भगवान् श्रीरामकृ.
और स्वामी विवेकानन्द के तैल चित्रों का अनावरण करते हु
'विवेकानन्द जयन्ती महोत्सव' का उद्घाटन। सामने बैठे हुए-
श्रीमती पाठक तथा सभाध्यक्ष श्री अनन्त गोपाल शेवड़े।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल – मई – जून

★ १९७२ ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी प्रणवानन्द

वार्षिक ४) वर्ष १० अंक २ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द
(कलकत्ता, फरवरी १८९७ ई.)

मुद्रण स्थल : मॅजेस्टिक प्रिंटिंग प्रेस, तिलक पुतला, नागपुर-२

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १०] अप्रैल – मई – जून [अंक २

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७२ ★ एक प्रति का १)

मुक्ति का प्रतिबन्धक

यावद्वा यत्किंचिद्विषदोष -
स्फूर्तिरस्ति चेद्देहे ।
कथमारोग्याय भवेत् तद्वद् -
अहन्तापि योगिनो मुक्त्यै ॥

—जब तक शरीर में तनिक भी विष का प्रभाव बचा हुआ है तब तक आरोग्य-लाभ कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार योगी की मुक्ति में अहंकार का प्रभाव प्रतिबन्धक होता है ।

—विवेकचूड़ामणि, ३०३ ।

नकल से असल !

एक चोर किसी राजा के महल में सेंध लगाकर भीतर घुसा। वह खजाने की खोज करता हुआ राजा के शयनकक्ष के बगल के कमरे में आ पहुँचा। उसने देखा कि शयनकक्ष में रोशनी जल रही है और कुछ आवाज भी आ रही है। उसने दीवाल से कान लगा-कर आवाज को सुनने की कोशिश की। राजा अपनी रानी से कह रहे थे, "देखो प्रिये! अब राजकुमारी के विवाह की चिन्ता नहीं करनी है। मैंने निश्चय किया है कि नदी के तीर पर जो साधु-महात्मा रहते हैं, उनमें से किसी एक के साथ राजकुमारी का विवाह कर दूँगा।"

चोर ने जब यह बात सुनी तो विचार करने लगा कि क्यों न इस अवसर का लाभ उठाया जाय। मैं भी अपने को साधू सजा लूँ और उन महात्माओं के बीच जा बैठूँ। कौन जाने कि मेरा भाग्य खुल जाय और मुझी को राजकुमारी मिल जाय। ऐसा सोच वह चोर राजमहल से बाहर निकल आया और दूसरे दिन साधू का स्वाँग रच महात्माओं के बीच नदी के तीर पर जा बैठा।

इधर राजा के कर्मचारी राजा के आदेशानुसार नदी के तीर पर आये और साधुओं के समक्ष राजा का प्रस्ताव रखने लगे। पर कोई भी महात्मा राजा के

प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में राजकर्मचारी साधू का स्वाँग किए हुए उस चोर के पास पहुँचे और उसके सामने भी वही प्रस्ताव रखा। चोर मौन रहा। कर्मचारी राजा के पास लौट आये और उन्हें बताया कि साधु-महात्माओं में तो कोई राजी होने का नहीं, पर हाँ, एक जवान साधू है जिस पर राजकुमारी से विवाह करने के लिए जोर डाला जा सकता है। तब राजा स्वयं उस साधू-स्वाँगधारी चोर के पास गये और उससे अनुनय-विनय करनें लगे जिससे वह राजकुमारी से विवाह करने के लिये राजी हो जाय। पर इधर राजा के आगमन से चोर का हृदय ही परिवर्तित हो गया और वह मन ही मन सोचने लगा, "मैंने तो केवल साधू का वेश ही धारण किया है और देखो, राजा मेरे पास आता है और कितना गिड़गिड़ाता है! अगर कहीं मैं असल का साधू हो जाऊँ तो जाने क्या क्या चीजें देखने को मिलें!" इस विचार ने उस पर इतना प्रभाव डाला कि इस प्रकार बगुला-भगत बन उसने विवाह करना स्वीकार नहीं किया, बल्कि वह अपने को उसी दिन से सुधारने में लग गया। उसने कभी शादी ही न की और एक दिन वह अपने जमाने का सबसे बड़ा महात्मा बन गया।

तो, कभी कभी अच्छाई की नकल करने से भी अप्रत्याशित रूप से अच्छे परिणाम निकल आते हैं!

ध्यान और साधना—२

स्वामी यतीश्वरानन्द

(गतांक से आगे)

नैतिक साधना

योगाचार्य पतंजलि साधक को 'आसन' के सम्बन्ध में तब तक किसी प्रकार का उपदेश नहीं देना चाहते जब तक अल्पाधिक मात्रा में वह योग के 'यम' और 'नियम' इन दो अंगों में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। साधक को अहिंसा का अभ्यास करना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, उसे लोभ नहीं करना चाहिए, यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, उसे असहाय हो दूसरों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि अपने पैरों पर खड़े रहने की कोशिश करनी चाहिए। किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। पतंजलि कहते हैं कि साधक भीतर और बाहर के शौच का अभ्यास करे, सन्तुष्ट रहने की कोशिश करे और परिस्थितियों के अनुकूल यथाशक्ति अपने को ढालने की चेष्टा करे। वह शरीर, वाणी और मन के तप का अभ्यास करे तथा शास्त्रों का अध्ययन करते हुए विचारों को पचाने का प्रयत्न करे। पर यह भी पर्याप्त नहीं है। अहंकार से प्रेरित कर्म अच्छा नहीं है, अतः साधक को चाहिए कि वह परमात्मा के प्रति सर्वतोभावेन अपने आपको समर्पित कर देने का अभ्यास करे।

सबसे पहले हम ईश्वर को एक शक्ति के रूप में

देखते हैं। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमें बताया करते थे, "जब तक तुम ईश्वर में विश्वास नहीं करते तब तक नैतिकता में कभी भी पूरी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो सकते" ईश्वर से उनका तात्पर्य किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं था जो विश्व से बाहर कहीं बैठा हो। वे बताते थे कि ईश्वर के सम्बन्ध में हमारी पहली धारणा यह होती है कि वह एक शक्ति है जिसने इस संसार को उत्पन्न किया और इसका पालन करता है तथा जो इसे वापस लीन कर लेगा। जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं तो अनुभव करते हैं कि जिस शक्ति को हम अपने से बाहर समझते थे, वह हमारे ही भीतर अस्तित्ववान् है। और भी आगे बढ़ने पर साधक यह देखता और अनुभव करता है कि वही दिव्य सत्ता सबके भीतर विद्यमान है।

अपने शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिए किसी न किसी प्रकार का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार इन्द्रियों और मन को भी प्रशिक्षित करना पड़ता है।

पहले शरीर को बली बनाओ

शरीर को कैसे साधोगे ? भोजन में सावधानी बरतो, अति भोजन से बचो और ऐसा अनुकूल भोजन चुनो जो तुम्हारे शरीर में समरसता लाता हो। बहुत से लोग सोचते हैं कि भोजन करना ही पेट के लिए सबसे अच्छा व्यायाम है ! पर यह सत्य नहीं है। स्वास्थ्यकर भोजन के अलावे शरीर के अंगों को थोड़ा-बहुत व्यायाम

अवश्य देना चाहिए। विशेषकर पेट का व्यायाम पाचन शक्ति को बढ़ाता है और शरीर को हलका रखता है। ये कुछ प्रारम्भिक नियम हैं जिनका पालन करना चाहिए। तभी तो प्राचीन शिक्षकों ने कहा है—"शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्।" पहले स्वस्थ शरीर चाहिए, क्योंकि ऐसा स्वस्थ शरीर ही आध्यात्मिक साधना के योग्य होता है। कभी कभी दुर्बल शरीर वाले मेरे पास आते हैं और कहते हैं, "मैं अपने शरीर को भूल जाना चाहता हूँ।" उनका शरीर भी भला क्या है? वह शरीर है या अन्य कुछ? बस मांस और अस्थियों का एक समूह मात्र! अतः शरीर के विकास की ओर ध्यान दो।

मानसिक समरसता लाओ

कभी कभी लोग मेरे पास आकर कहते हैं, "स्वामीजी! मैं सब कुछ भूल जाना चाहता हूँ, अपने मन को भी!" उनका मन भला कैसा है? स्वामी विवेकानन्द इस 'मन' शब्द पर श्लेष किया करते थे। मन का एक अर्थ चालीस सेर भी होता है, अतएव स्वामीजी कहा करते थे, "तुम्हारे मन का वजन चालीस सेर है या केवल एक छटाक? तुम्हारा मन किस प्रकार का है?" तो, मन का विकास करना है। इच्छाशक्ति को बढ़ाना है। विचारों और भावनाओं को विकसित करना है। यदि भीतर आध्यात्मिक लगन रहे तो सब कुछ सरल हो जाता है।

जब तुम कोई परीक्षा पास करना चाहते हो—ज्ञान

पाने के लिए उतना नहीं जितना कि नौकरी पाने के लिए––तो कितना कष्ट स्वीकार करते हो ! यहाँ भी यदि हम अपने सामने आदर्श को, आध्यात्मिक आदर्श को, जाज्वल्यमान बनाये रखें तो बातें सरल हो जाती हैं। तब हमारा सारा प्रयत्न तथा दुःख का स्वीकार करना सार्थक हो जाता है।

उपनिषदों में एक सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। कठोपनिषद् कहता है कि शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथि है और आत्मा रथ का स्वामी सवार है। रथ के चलते समय यदि उसके चक्के अलग निकल जायँ तो क्या वह आगे बढ़ सकता है ? घोड़े अत्यन्त चंचल हैं। घोड़ों को वश में लाओ और लगाम कड़ी करो। रथ का स्वामी आत्मा सारथि को पूरी तरह जागते रहने के लिए सचेत करे। स्वामी तो सो गया है, सारथि नशे में है, लगाम ढीली है और घोड़े उत्तेजित हो भाग रहे हैं; भाग्य से कोई बड़ी दुर्घटना नहीं हो पायी है। इसके पहले कि कोई दुर्घटना हो जाये, हम सचेत हो जायँ। रथ का स्वामी पूरी तरह आँखें खोलकर जाग उठे। वह सारथि को सावधान रहने के लिए कह दे और मन की सहायता से इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करे तथा उन्हें ठीक रास्ते पर चलने की प्रेरणा दे। तभी रथ ठीक ढंग से चलेगा।

किन्तु यहाँ पर हमें स्मरण रखना चाहिए कि हममें

से कोई भी आध्यात्मिक साधना में एकदम से पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। एक न्यूनतम प्रगति आवश्यक है जिससे हमारा शरीर, मन और इन्द्रियाँ एक समरसता की स्थिति प्राप्त कर सकें। हमारे इस विकृत अहंकार को चाहिए कि वह हमारी अल्प इच्छाशक्ति के पीछे विद्यमान उस व्यापक इच्छाशक्ति के सम्पर्क में आने के लिए अपने को तैयार रखे। जब हम कुछ सीमा तक— याद रखो, कुछ सीमा तक— पहले अपने शरीर को, फिर अपने मन को, तत्पश्चात् अपनी इन्द्रियों को साधने में समर्थ होते हैं और अपने भीतर कुछ मात्रा में आध्यात्मिक जिज्ञासा जगाने में सफल होते हैं, तब आसन प्रारम्भ कर सकते हैं।

आसन

स्मरण रखो, कुछ दूर तक यम और नियम का अभ्यास करने के उपरान्त योगाचार्य पतंजलि हमें आसन की शिक्षा देते हैं। हमें कौनसा आसन चुनना चाहिए ? कहा है— "स्थिरसुखमासनम्" (योगसूत्र, २।४६)—'जो स्थिर और सुखकारी हो वही आसन है।' ऐसा आसन चुनो जिसमें तुम स्थिरतापूर्वक बैठ सकते हो और जिसमें तुम्हें आराम लगता है। कोई पूछ सकता है, क्या मैं लेटे लेटे आसन कर सकता हूँ ? तुम भले ही लेटकर आसन साधने की कोशिश करो, पर वह एक जोखिम उठाना है, क्योंकि ऐसा आसन बहुधा नींद को बुला लिया करता है। लेटे लेटे ध्यान का

अभ्यास करने से, सम्भव है, तुम आगे बढ़ ही न सको। हो सकता है कि तुम्हें थोड़ी अच्छी नींद आ जाय और उससे तुम ताजगी का अनुभव करो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से वह तुम्हें मन्द बना देगा। महर्षि व्यास कहते हैं--"आसीन : सम्भवात्" (वेदान्तसूत्र, ४।१।७)-- 'उपासना तो बैठकर ही सम्भव होती है'। बैठने का आसन ही श्रेयस्कर है, पर सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि जिस आसन में शरीर को आराम मिलता है, उसमें मन भी आराम का अनुभव करता है।

सबके लिए प्रार्थना करो

आसन साध लेने के बाद ईश्वर का स्मरण करो। वही हमारा आदर्श है, वही अन्तरात्मा है। वही भीतर और बाहर है। तुम कोई प्रार्थना गा सकते हो। थोड़ा संगीतमय बनो। अपने मन, शरीर और इन्द्रियों को थोड़ा-बहुत आध्यात्मिक स्पन्दनों से भर लो। तत्पश्चात् परमात्मा के उद्देश्य से प्रणाम करो। आध्यात्मिक जीवन में एक बड़ा डर यह है कि जब हम किसी विशेष पथ का अनुसरण करते हैं तो सम्भव है कि हममें बड़ी कट्टरता आ जाय। अतएव यह लाभदायक होगा कि हम केवल परमात्मा को ही नमन न करें, बल्कि सभी देशों के समस्त आचार्यों और महापुरुषों को भी नमन करें; देश के विभिन्न भागों में जन्म लिये महात्माओं को प्रणाम करें। इससे क्या होगा? हमारा मन

उदार बनेगा ।

आध्यात्मिक जीवन में दूसरा डर यह है कि हम कहीं अत्यधिक स्वार्थी न बन जायँ । बहुधा मैंने देखा है कि साधना के प्रारम्भ में साधक अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है । वह दूसरों की बात भूल जाता है । अतएव केवल अपने कल्याण के लिए ही प्रार्थना न कर, सबके कल्याण के लिए प्रार्थना करो । जैसे तुम शान्ति चाहते हो, आध्यात्मिक ज्ञान चाहते हो, पवित्र बनना चाहते हो, तो सबकी शान्ति, पवित्रता और आध्यात्मिक ज्ञान के लिए प्रार्थना करो । सभी के सभी परमात्मा की ओर बढ़ चलें । सभी पवित्रता का अनुभव करें । सबका अन्तर दिव्य ज्ञानालोक से भर जाय । इस प्रकार की प्रार्थना हमें उदार बनाती है ।

आसन, सर्वव्यापी परमात्मा को नमन तथा संसार के सभी धर्माचार्यों और महात्माओं को प्रणाम करने से हमारा मन विकसित होगा, हमारी बुद्धि उदार होगी तथा हम अध्यात्म के रास्ते बढ़ चलेंगे ।

प्राणायाम का महत्त्व

प्राणायाम का थोड़ा सा अभ्यास बहुत अच्छा रहेगा । एक गहरी साँस लो और उसे छोड़ दो । लय के साथ साँस लेते और छोडते रहो । साँस को अन्दर रोके रहने की जरूरत नहीं । पर जैसा मैंने कहा, मन को सुझाव देते रहो कि मैं श्वास के साथ पवित्रता, बल और शान्ति को अन्दर खींचे ले रहा हूँ । वह अनन्त

आत्मा ही समस्त पवित्रता, सारी शक्ति और समग्र शान्ति का उत्स है। अपने आपको दिव्य पवित्रता, दिव्य शक्ति और दिव्य शान्ति से भर लो। सबके प्रति पवित्रता की तरंगें प्रवाहित करो। सबके लिए मैत्री का भाव पोषित करो। यदि तुम ऐसी मानसिकता बना लो तो तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि कितनी सहजता से तुम चेतना के उच्चतर स्तरों पर उठ जा रहे हो। ऐसी मानसिक अवस्था में इन्द्रियों को अपने विषयों से अलग कर देना भी सहज हो जाता है और तब हम वैराग्य का भाव लाने में समर्थ होते हैं।

कामनाओं का आध्यात्मीकरण करो

इन्द्रियाँ बाहरी संसार के सम्पर्क में आना चाहती हैं। इन्द्रियों को नियंत्रित करो। उपनिषदों के ऋषियों के समान तुम भी इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ दो। इन्द्रियों की क्रियाओं को आध्यात्मिक बना लो। एक वैदिक प्रार्थना कहती है—— "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा:, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:" (ऋग्वेद, १-८९-८)—— 'हे देवताओ ! हम अपने कानों से शुभ बातें ही सुनें। हें पूज्यगण ! हम अपनी आँखों से शुभ ही देखें।' जो शुभ है वही सुनो, जो शुभ है वही बोलो, जो शुभ है वही देखो। इन्द्रियों को शुभ दिशा प्रदान करो। उनका आध्यात्मीकरण कर डालो। अभी मन अत्यन्त चंचल है, वह दंगा-फसाद करना चाहता है। ऐसे मन को शान्त कैसे किया जाय ? ये सारी कामनाएँ

और वासनाएँ मन के लिए कष्टों को जन्म देती हैं। कम से कम जब तुम एक आध्यात्मिक मनोदशा में हो, जब तुम्हारा मन थोड़ा उदार हो गया है, तो समझो कि ये सभी बाधाएँ हैं और तुम्हारी शत्रु हैं। जैसा श्रीरामकृष्ण देव हमसे कहते हैं और अपने शिष्यों से कहा है— "काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर से डरो मत। तनिक भी मत डरो। इन षड्-रिपुओं को आध्यात्मिक बना डालो। काम ही लाना है तो ईश्वरीय संग का काम मन में उठाओ। क्रोध करना है तो अपने क्रोध से ही क्रोध करो। जो कुछ तुम्हारे रास्ते में बाधक होता है उसी से क्रोध करो— मनुष्यों से नहीं। लोभ करना है तो उस परमात्मा को— उस परमधन को पाने का लोभ करो। अहंकार करना है तो इसका अहंकार करो कि तुम ईश्वर की सन्तान हो।" तब क्या होगा? हमारी समस्त कामनाएँ आध्यात्मिक दिशा ग्रहण कर लेंगी।

कुछ लोगों में एक गलतफहमी फैली हुई है। कुछ नीमहकीम किस्म के मनोवैज्ञानिक साधकों से कहा करते हैं— "देखो, तुम लोग अपनी भावनाओं को दबा रहे हो, अपनी कामनाओं का दमन कर रहे हो।" पर बात तो यह है कि हम ऐसा कुछ भी नहीं करते। हम अपनी इन्द्रियों और मन की शक्ति को संचित करना चाहते हैं और इस संचित ऊर्जा को अध्यात्म के रास्ते लगा देना चाहते हैं। हम ईश्वर की महिमा का गान करना चाहते

हैं । हम उस परमात्मा को आँखों से देखना चाहते हैं । हम अपनी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाना चाहते हैं जिससे साधक के जीवन में एक ऐसा समय आ जाय जब वह अदृश्य को देखने के लिए नयी आँखें तथा ईश्वरीय वाणी को सुनने के लिए नये कान प्राप्त कर लेगा । यह सम्पूर्ण चक्र शाश्वत काल से ही चला हुआ है । हम उस दैवी सत्ता के साथ खेलने में समर्थ होते हैं । पर यह सब तो रास्ते की बातें हैं । हमें और भी आगे जाना है ।

देह एक मन्दिर है

अभी उपनिषद् का जो दृष्टान्त मैंने दिया, उसमें शरीर की तुलना रथ से की गयी है । एक दूसरे दृष्टान्त में शरीर की उपमा मन्दिर से दी गयी है–– 'देहो देवालयः प्रोक्तः ।' यह एक सुन्दर कल्पना है । इस मन्दिर में तुम भक्त को देखते हो और साथ ही देवता को भी । इन दोनों की एकता सम्पादित करना ही लक्ष्य है । पर यह एक विचित्र मन्दिर है । हमारा यह छोटा शरीर हमारी सूक्ष्म देह से ओत-प्रोत और भिदा हुआ है । फिर यह सूक्ष्म देह भी जीवात्मा से ओत-प्रोत और भिदी हुई है, तथा यह जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है । हम जैसे जैसे स्थूल देह, सूक्ष्म देह, इन्द्रियों और मन को समरस बनाने में सफल होते जाते हैं, वैसे वैसे हम उस दिव्य ज्योति का अधिकाधिक अनुभव करते हैं जो हमारे भीतर प्रकाशमान है । अतएव, हृदय के

गर्भ-गृह में प्रवेश करो और देखो कि कैसे वह आत्मा के आलोक से परिपूर्ण है। और यह आलोक परमात्मा का ही अंश है।

ध्यान कैसे करें

यदि तुम अरूप का ध्यान करना चाहते हो, तो अपने शरीर, मन, सारे संसार और सभी कुछ को ईश्वर में विलीन कर दो। ध्यान रखो, तुम आलोक के एक छोटे गोले के समान हो और वह परमात्मा ज्योति का असीम गोला है जो सर्वत्र प्रकाशित है। किन्तु जब तक हमारा देह-बोध बना हुआ है और व्यक्तित्व की धारणा से हम चिपटे हुए हैं, तब तक हम इस ध्यान का अभ्यास नहीं कर सकते। इसलिए हमारे उपदेशक हमें बताते हैं-- कल्पना करो कि तुम्हारे आत्मा ने एक पवित्र सूक्ष्म देह धारण की है, वह एक पवित्र मानसिक देह और एक पवित्र भौतिक देह से घिरा हुआ है। कल्पना करो कि वह परमात्मा इष्ट देवता का रूप धारण कर लेता है।

अब ध्यान करो-- इस अनन्त और असीम ज्योति-पुंज में, जो असीम प्रेम और असीम आनन्द का भी पुंज है, हम भक्त और देवता दोनों को पाते हैं। वह इष्ट देवता अनन्त ज्योति, असीम प्रेम और आनन्द का विग्रह है। भगवान् के उपयुक्त नामों का गान करो और उन पर ध्यान करो।

सर्वप्रथम, उस परमात्मा के ज्योतिर्मय विग्रह का

ध्यान करो जिसे हमने चुना है। कल्पना करो कि वह आनन्दमय है। उसकी अनन्त पवित्रता, अनन्त प्रेम, अनन्त करुणा और अनन्त आनन्द का ध्यान करो। फिर आगे बढ़ो— उसके अनन्त चैतन्यमय रूप का ध्यान करो और कल्पना करो कि वह उस असीम चैतन्यसागर में मानो डूब गया है।

इससे क्या होगा ? जैसे जैसे साधक ईश्वर का नाम लेता है और उसके एक-एक पक्ष का ध्यान करता है, उसके भीतर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है। मैंने पहले कहा था कि 'यम' और 'नियम' का पालन करने से हम एक प्रकार की समरसता प्राप्त करने में सफल होते हैं; परन्तु भगवान् का नाम लेने से, उनका ध्यान करने से हमारे जीवन में जिस समरसता की प्रतिष्ठा होती है, वह पहले की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जब हमारे मन में, हमारे आत्मा में सहज रूप से यथार्थ समरसता प्रतिष्ठित हो जाती है, तो हम सार्वभौमिक समरसता का संस्पर्श अपने भीतर अनुभव करने लगते हैं। हम अनुभव करते हैं कि हमारा शरीर विराट पुरुष का अंग है, हमारा मन विश्व-चेतना का ही एक स्फुल्लिग है और हमारा आत्मा विश्वात्मा का ही अंश है। जो लोग साधना करते हैं और ध्यान का अभ्यास करते हैं, उनमें से अनेकों चेतना की इस अवस्था को प्राप्त करते हैं। यदि हम जप और ध्यान का ठीक ठीक अभ्यास करें तो हमें भी कुछ दिव्य दर्शन या दैवी

अनुभूति हो सकती है। इससे हमारी श्रद्धा बढ़ती है, विश्वास दृढ़ होता है और हमारा मन ध्यान के रास्ते स्थिर होने लगता है।

मन तो ध्यान के विषय से दूर भागना चाहता है। नैतिक साधना के द्वारा हम कुछ दूर तक मन की चंचलता को कम करने में सफल होते हैं ; और जैसे जैसे हम जप और ध्यान के अभ्यास में आगे बढ़ते हैं, वैसे वैसे मन को एक आधार--भगवान् के नाम का दृढ़ आधार प्रदान करते जाते हैं। इससे हमारी एकाग्रता बढ़ती है, ईश्वरीय रूप का ध्यान स्पष्टतर होता है और वह मन को और भी पकड़ लेता है। हम परमात्मा का चिन्तन करने लगते हैं और चिन्तन के साथ हमारे हृदय में उसके लिए थोड़ा प्रेम भी रहता है। यदि हृदय में उस आदर्श के प्रति थोड़ा प्रेम हो तो हमारे लिए जप और ध्यान का अभ्यास करना सरल हो जाता है। जप और ध्यान का फल क्या होता है ? जप और ध्यान मन को काम से लगाये रखते हैं। शब्द, दैवी रूप और भाव तथा इन सबके साथ वह प्रेम मन को एकाग्र बनाता है। जब ध्यान के विषय में यानी ध्येय वस्तु में हमारी रुचि बाहरी वस्तुओं में रूचि की अपेक्षा अधिक हो जाती है तो मन अन्तर्मुख हो जाता है। कम से कम थोड़ी देर के लिए ही सही, मन उस परमात्मा पर, उसके दिव्य आनन्दमय रूप पर, उसके महान् गुणों पर रम जाता है और तब एक ऐसा समय

आता है जब साधक ईश्वरीय अस्तित्व का अनुभव करने लगता है। साधकों के जीवन में हम पाते हैं कि उनमें से कई लोगों को ईश्वरीय रूप के दर्शन हुए थे। वह ईश्वर अपने को किसी न किसी रूप में प्रकट कर देता है, वह गुरु बन जाता है।

गुरु भीतर हैं

हमारे उपदेशक हमें बताते हैं कि गुरु भीतर हैं। आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में हम भले ही बाहर के गुरु की सहायता लें, पर जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं, हम पाते हैं कि यथार्थ गुरु तो भीतर हैं और हम यह अनुभव करते हैं कि हमें अपने को भीतर के इस दैवी गुरु के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए। भीतर के ये गुरु शिष्य को क्रमशः आध्यात्मिक अनुभूति की निचली सीढ़ी से उत्तरोत्तर ऊपर की सीढ़ी में ले जाते हैं। हमें जिन सन्तों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उन सबके जीवन में भी ऐसा ही हुआ। यदि हम अपने को स्वर में बाँध लेना जान लें, तो हम समस्त महात्माओं की अनुभूतियों, उनके गीतों, उनके हृदय के उच्छ्वासों और उनके आध्यात्मिक अनुभवों के उद्गारों को सुनने में समर्थ हो सकते हैं। ये अनुभूतियाँ वास्तव में होती हैं। यदि हम साधना की शर्तों का पालन करते हुए निष्ठापूर्वक उसमें लगे रहें, तो हम भी कुछ परिणामों का अनुभव करते हैं। स्वामी ब्रह्मानन्दजी हमें यही बताया करते थे।

ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण

ध्यान का फल तो अवश्यम्भावी है, पर जप और ध्यान का अभ्यास करते समय हमारी दृष्टि फल की ओर अधिक नहीं होनी चाहिए। फल तो अपने आप मिलेंगे ही। यदि फल के सम्बन्ध में अधिक चिन्ता करने लगें तो हम ठीक ढंग से साधना करना भूल जाएँगे। यहीं पर आत्म-समर्पण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात आती है। योगाचार्य पतंजलि ने कहा है—"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" (योगसूत्र, २/४५)—'ईश्वर के प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।' अतएव अपने आपको पूरी तरह समर्पित कर दो—अपने उद्यम और अपनी साधना का सारा फल उस परमात्मा के चरणों में न्योछावर कर दो। अपनी अल्प इच्छाशक्ति को उस दैवी इच्छा-शक्ति से जोड़ना जान लो, और तब एक महान् चमत्कार घट जायगा। वह सत्य जो बाहर और भीतर प्रकाशमान है, अपने को अपनी सम्पूर्ण महिमा में हमारे समक्ष प्रकट कर देगा और तब जीव और परमात्मा युक्त हो जायेंगे। स्वामी विवेकानन्द ने हमें धर्म की एक व्याख्या दी है। वे कहते हैं—"शाश्वत जीव और शाश्वत ईश्वर का शाश्वत सम्बन्ध ही धर्म है।" पर इस सत्य का अनुभव करने के लिए हमें कई सीढ़ियों में से होकर जाना पड़ता है।

एक निश्चित मानसिक स्थिति पैदा करो

अब यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़ा होता है कि

हम कहाँ पर खड़े हैं। यह जान लो कि हम परमात्मा की ओर कैसी दृष्टि रखकर आगे बढ़ रहे हैं। हममें से बहुत कम लोग उस परमात्मा को अपने आत्मा के आत्मा के रूप में देखने में समर्थ होते हैं। हम बच्चों के समान हैं। जैसे एक छोटा बच्चा अपनी माता या अपने पिता पर निर्भर रहता है, उसी प्रकार हम भी ईश्वर पर निर्भर रहना चाहते हैं। हमें एक मित्र की आवश्यकता होती है। हमें जीवन का एक साथी चाहिए, हमें एक ऐसा व्यक्ति चाहिए जो हमें प्यार करे और जिसे हम अपनी भावनाओं का, अपने प्यार का केन्द्र बना सकें। ईश्वर तो असंख्य रूपों में, असंख्य सम्बन्धों के माध्यम से अभिव्यक्त है। कोई भी एक रूप और सम्बन्ध चुन लो। जब हम हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न साधना-प्रणालियों का अध्ययन करते हैं, तो पाते हैं कि भक्त साधना का प्रारम्भ ईश्वर को स्वामी मानकर उसकी उपासना करते हुए करता है, या उसे पिता या माता मानता है या फिर उसे एक दैवी शिशु के रूप में ग्रहण करता है। ऐसे कितने ही भक्त हैं जो भगवान् को बालक-कृष्ण या बालक-राम के रूप में प्यार करना चाहते हैं। दूसरे भक्त उसकी उपासना उमा, कुमारी या जगदम्बा के रूप में करना चाहते हैं। इन समस्त उपासना-पद्धतियों और ध्यान की प्रणालियों से मन और हृदय शुद्ध हो जाते हैं। कहा गया है कि नैतिक

साधनों से प्राप्त पवित्रता पर्याप्त नहीं होती। हमें एक उच्चतर पवित्रता की आवश्यकता होती है जो आत्मा को केवल शरीर, इन्द्रियों और मन के समुदाय से ही नहीं बल्कि इस क्षुद्र अहंकार से भी असंग कर दे। आखिर यह अहंकार ही तो आत्मा का अन्तिम बन्धन है।

सबमें वही एक आत्मा

आत्मा और परमात्मा का ऐक्य साधित करना ही लक्ष्य है। और जब वह परमगुरु परमात्मा अपनी महिमा को प्रकट करता है, तब भक्त अनुभव करता है कि वह जिस ईश्वर की उपासना करता रहा था, वह केवल भीतर ही नहीं बल्कि सबमें अभिव्यक्त है। तब साधक के लिए एक नया और पूर्णतर जीवन प्रारम्भ होता है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण गीता में (६।२९) कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।

—'जिसका हृदय योग से युक्त है और जो सर्वत्र समदर्शी हो गया है, वह आत्मा को सर्वभूतों में और सर्वभूतों को आत्मा में देखता है।' इस प्रकार भक्त यह अनुभव करता है कि जो आत्मा भीतर है, वही बाहर भी है और ईश्वर को सबमें प्रकट देखकर वह सबमें उसकी उपासना करता है।

आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए। हम ध्यान रखें कि हममें से अनेकों ईश्वर के किसी सगुण पक्ष को ही लेने में समर्थ होते हैं। यदि मैं ईश्वर को स्वामी समझूँ और अपने को उसका सेवक, तो हमें अपने भाइयों की बात भूल नहीं जानी चाहिए। हम सभी उसी परमात्मा के सेवक हैं। यदि हममें इतनी योग्यता है कि हम ईश्वर को अपने आत्मा का भी आत्मा मानते हैं, तो हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अन्य सभी लोग आत्मा हैं और उसी परमात्मा से शाश्वत रूप से सम्बन्धित हैं तथा उस परमात्मा से सम्बन्धित होने के नाते एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। ऐसा अनुभव करने से हमारा जीवन एक नयी दिशा ले लेता है। जिन महापुरुषों ने हमें यह बताया कि 'कर्म और उपासना को साथ ही साथ चलना चाहिए,' उन्होंने हमसे यह भी कहा कि 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' के आदर्श को अपने सामने रखो। यह ठीक है कि तुम्हें अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्न करना है, पर साथ ही यह भी ध्यान रखो कि तुम्हें सबके कल्याण के लिए भी कार्य करना है। ज्ञानालोक से उद्भासित आत्मा ही ईश्वर को सबमें देख सकता है। ऐसा व्यक्ति सहज ही सेवाधर्म में प्रतिष्ठित हो जाता है। परन्तु हममें से जो लोग अभी भी अज्ञान में पड़े हैं, उन्हें तीव्र रूप से यह विचार करना

चाहिए कि हम उस ईश्वरीय सत्ता के माध्यम से एक दूसरे के साथ सम्बन्धित हैं; अतएव जैसे हम अपना कल्याण करने की कोशिश करते हैं, वैसे ही दूसरों के कल्याण की भी हमें कोशिश करनी चाहिए।

जो उपदेश हमने प्राप्त किया था कि 'कर्म और उपासना को साथ ही साथ चलना चाहिए,' वह उपर्युक्त आलोक में एक नया अर्थ धारण कर लेता है। ज्यों ज्यों हम ध्यान के अभ्यास में प्रगति करते हैं, ज्यों ज्यों हमारा आन्तरिक विकास होता है, त्यों त्यों हम अपने परिवार के सदस्यों के लिए ही नहीं बल्कि दूसरों के कल्याण का भी प्रयत्न करते हैं। यदि संसार के लोग इस आदर्श का पालन करते तो यह दुनिया कैसी सुन्दर हो गयी होती! यदि हम दूसरों के सम्बन्ध में वैसा ही सोचें जैसाकि अपने बारे में सोचते हैं, तो निश्चय ही हम बहुत कुछ प्राप्त कर लें। जब हम स्वार्थ की भावना से घिरे होते हैं तो सोचते हैं, "हमें तो बस अपने आपमें ही रुचि है।" किन्तु जब हमारा दृष्टिकोण कुछ व्यापक होता है तो अनुभव करते हैं कि हम एक महत्तर पूर्ण के अंश हैं और तब हम सबके साथ घनिष्ठता और सामीप्य का अनुभव करते हैं। यदि सभी लोग कर्म और उपासना के आदर्श को इस दृष्टिकोण से देखें तो जीवन मधुर हो जाता है और साधना सार्थक हो जाती है।

अतएव हम ध्यान रखें कि कर्म और उपासना को एक साथ चलना चाहिए। ध्यान रखें कि जैसे हम अपना कल्याण चाहते हैं, उसी प्रकार दूसरों का भी कल्याण चाहें, तथा यह स्पष्ट अनुभव करें कि जो प्रभु हमारे भीतर बसता है वही सबके भीतर बसा है और वही परम सत्ता है जिसमें हम रहते हैं, चलते हैं और अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं। हम सदैव यही प्रार्थना करें—"हे प्रभो ! तुम हमारी बुद्धि को दिशा प्रदान करो और हमारी चेतना को आलोकित कर दो।"

(समाप्त)

•

निन्दावाद को एकदम छोड़ दो। तुम्हारा मुंह बन्द हो और हृदय खुल जाय। इस देश और सारे जगत् का उद्धार करो। तुम लोगों म से प्रत्येक को यह सोचना होगा कि सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। वेदान्त का आलोक घर घर ले जाओ, घर घर में वेदान्त के आदर्श पर जीवन गठित हो। प्रत्येक जीवात्मा में जो ईश्वरत्व अन्तर्निहित है, उसे जगाओ।

—स्वामी विवेकानन्द

लक्ष्मी देवी

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार श्रीरामकृष्ण देव के स्वप्न में शीतला देवी के दर्शन हुए। देवी ने उन्हें बताया कि कामारपुकुर के शीतला मन्दिर में देवी के प्रतीक के रूप में जिस घट की उपासना की जाती है, उसकी अधिष्ठात्री देवी और लक्ष्मी में विद्यमान आत्मा एक ही है। लक्ष्मी को भोजन कराना शीतला को ही भोग लगाना है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण देव ने अपने गृही भक्त गिरीशचन्द्र घोष से कहा था, "किसी दिन तुम लक्ष्मी को मिष्टान्न अर्पित करो। यह शीतला को भोग लगाने के ही समान होगा। लक्ष्मी शीतला का अंशावतार है।" युगावतार श्रीरामकृष्ण लक्ष्मी देवी में विद्यमान उच्च आध्यात्मिक तत्त्व को जानते थे तथा उनका विचार था कि वह सामान्य महिलाओं के समान नहीं है, वह दैवी अनुप्रेरणा से उनके कार्यों में सहायता प्रदान करने के लिये आयी है तथा वह सांसारिकता के धरातल से बहुत ऊँची है। इसलिये जब उन्होंने सुना कि लक्ष्मी देवी का विवाह हो गया है, उन्होंने कहा था, "वह विधवा हो जायेगी।" जब उनके भानजे हृदय ने उनका विरोध किया, तो वे बोले थे, "मैं क्या करूँ? माता ही मुझसे कहला रही हैं। लक्ष्मी में शीतला का अंश है, जो बड़ी क्रुद्ध प्रकृति की देवी हैं...और

जिससे उसका विवाह हुआ है, वह तो मरणधर्मा है। ...इसीलिए वह विधवा हो जायगी।" लक्ष्मी के विवाह के पहले भी उन्होंने एक बार कामारपुकुर में कहा था, "अगर लक्ष्मी विधवा हो जाय, तो यह अच्छा ही होगा। तब वह कुलदेवता की भलीभाँति सेवा कर सकेगी।"

साक्षात् शीतला समझकर श्रीरामकृष्ण ने काशीपुर में जिसकी दो बार पूजा की थी, वह लक्ष्मी देवी उन्हीं की भतीजी थी। श्रीरामकृष्ण के बड़े भाई रामेश्वर लक्ष्मी देवी के पिता थे। बंग संवत् १२७० की वसन्तपंचमी के दिन (फरवरी १८६४) उनका जन्म हुआ था तथा उनको घर में 'लक्ष्मी मणि' कहा जाता था। कालान्तर में लक्ष्मी देवी श्रीरामकृष्ण-भक्त समुदाय में 'लक्ष्मी दीदी' के नाम से सम्बोधित होने लगीं तथा उनका यह नाम आज भी बहुप्रचलित है।

जब लक्ष्मी देवी बहुत छोटी थीं, तभी उनके पिता रामेश्वर की मृत्यु हो गयी। फलतः उनका बाल्यकाल बड़ी दरिद्रता में बीता। उनके पिता ने देहत्याग के पूर्व ही उनका सम्बन्ध गोघाट के धनकृष्ण घटक के साथ निश्चित कर दिया था। बाद में उन्हीं के साथ ग्यारह वर्ष की अवस्था में लक्ष्मी देवी का विवाह सम्पन्न हुआ। विवाह के दो माह बाद धनकृष्ण घटक कामारपुकुर आये और वहाँ से नौकरी की तलाश में वे जो निकले, तो फिर बाद में उनका कोई समाचार ही नहीं मिला।

बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उनका श्राद्ध किया गया और लक्ष्मी देवी विधवा हो गयीं। इस प्रकार उन्हें पति-गृह में रहने का अवसर ही नहीं मिला और वे अपने पिता के घर ही रहने लगीं।

बाल्यकाल से ही लक्ष्मी देवी की भक्ति-भावना का परिचय मिलने लगा था। कुलदेवता की पूजा में वे बहुत रुचि लिया करती थीं। ग्रामीण पाठशाला से उन्हें मात्र अक्षर-ज्ञान ही हुआ था, तथापि वे धर्म-ग्रन्थ का पारायण कर लिया करती थीं। उनकी बुद्धि इतनी कुशाग्रथी कि अनेक ग्रन्थों के उन्हें पृष्ठ-पर-पृष्ठ कण्ठस्थ थे। पिता के देहावसान के उपरान्त वे प्रायः दक्षिणेश्वर में अपने भाई के साथ रहने लगीं। यहीं उन्हें देवमानव श्रीरामकृष्ण देव का सुरदुर्लभ सान्निध्य प्राप्त हुआ और उनके मार्गदर्शन में उनकी अन्तर्निहित आध्यात्मिकता का अपूर्व विकास हुआ।

एक बार जब श्रीरामकृष्ण देव ने लक्ष्मी देवी से पूछा, "तुम्हें कौन से देवता अधिक प्रिय हैं?" तो उन्होंने राधाकृष्ण को अपना इष्ट बताया। यह सुनकर ठाकुर ने उनकी जिह्वा पर मंत्र लिख दिया और कानों में उसका उच्चारण किया। जब श्री माँ सारदा देवी को लक्ष्मी की इस मंत्रदीक्षा का समाचार मिला, तो उन्होंने ठाकुर को बताया कि लक्ष्मी ने तो उनके साथ कामारपुकुर में संन्यासी पूर्णानन्द से शक्ति-मन्त्र ग्रहण किया है। इस पर ठाकुर ने कहा था, "कोई हर्ज नहीं,

मैंने लक्ष्मी को जो दिया है वह ठीक ही दिया है।"
श्रीरामकृष्ण देव की कृपा से लक्ष्मी देवी वैष्णव-मत का पालन करने लगीं। उनका कण्ठ अत्यन्त मधुर था तथा उनमें अपूर्व अभिनय-क्षमता भी थी। वे प्रायः धार्मिक जात्राओं (नाटक-नौटंकी) के संवादों को एकालाप बनाकर कहा करती थीं। काली, सरस्वती, जगद्धात्री आदि का अभिनय करना उन्हें बड़ा प्रिय था। एक बार तो कदम्ब-वृक्ष के नीचे खड़े श्रीकृष्ण का अभिनय करके उन्होंने उपस्थित लोगों को चमत्कृत कर दिया था।

लक्ष्मी देवी चण्डीदास और विद्यापति के भक्तिपूर्ण पदों का गायन करते समय इतनी तल्लीन हो जाती थीं कि उन्हें बाह्य संसार का भान नहीं रहता था। कभी-कभी तो वे भावाविष्ट होकर मीरा के समान नृत्य करने लगती थीं। एक बार वे बलराम के भाव में आविष्ट हो गयीं तथा स्वयं को बलराम समझने लगीं। तब वे दक्षिणेश्वर में अपने भाई के घर रहा करती थीं। भावाविष्ट हो वे पुरुषों का-सा वेश धारण कर नृत्य करने लगीं और कीर्तन गाने लगीं। वे नृत्य और कीर्तन में इतनी तल्लीन हो गयीं कि उन्हें बाह्य परिवेश का भान ही नहीं रहा। उनके उस अद्भुत कीर्तन को सुनने के लिए भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। बाद में उन्होंने कहा था, "मैं क्या करूँ? मैंने तो स्त्री के रूप में जन्म-ग्रहण किया है। अगर मैं पुरुष होती, तो बता

देती कि कीर्तन क्या होता है।"

ठाकुर के निर्देशन में लक्ष्मी देवी अनेकानेक आध्यात्मिक साधनाओं में लग गयीं। उन दिनों वे दक्षिणेश्वर के नौबतखाने में श्री माँ सारदा के साथ रहती थीं और चिक के छेद से श्रीरामकृष्ण देव की लीलाओं का दर्शन किया करती थीं। ठाकुर ब्राह्ममुहूर्त में ही उठ जाते थे तथा पंचवटी की ओर जाते समय लक्ष्मी देवी को ध्यान-जप के लिए उठा दिया करते थे। जब लक्ष्मी देवी का उत्तर उन्हें नहीं मिलता तो वे विनोद में दरवाजे से पानी भी डाल दिया करते थे, ताकि बिस्तर भीगने के भय से वे चटपट उठ जायें। एक बार उन्होंने लक्ष्मी देवी से कहा था, "यदि तुम अन्य देवी-देवताओं का ध्यान न कर सको, तो केवल मेरा ही ध्यान कर लिया करना। तुम्हारे लिए यही पर्याप्त होगा।"

कठिनतर आध्यात्मिक साधनाओं के फलस्वरूप लक्ष्मी देवी को अनेकानेक दिव्य अनुभव होने लगे थे। उन्हें प्रायः ही देवी-देवताओं के दर्शन होते। एक बार जगन्नाथ पुरी में उन्हें अभूतपूर्व दर्शन हुआ। श्री जगन्नाथ के मन्दिर में उन्होंने देखा कि श्रीरामकृष्ण देव जगन्नाथजी के सामने खड़े हैं तथा उन दोनों में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार का एक अनुभव उन्हें पुरी में समुद्र-स्नान करते समय हुआ था। जब वे समुद्र में स्नान कर रही थीं, तब एक लहर ने उन्हें

गहराई की ओर खींच लिया। जब वे डूबने लगीं, तब एक ग्वाल-बाल ने उन्हें हाथ पकड़कर किनारे तक पहुँचा दिया। स्नान के उपरान्त जब लक्ष्मी देवी मन्दिर में पहुँचीं, तब उन्हें बड़ा विलक्षण दृश्य दिखा। उन्होंने देखा कि जिस ग्वाल-बाल ने अभी उन्हें समुद्र में डूबने से बचाया था, वही बलराम के स्थान पर खड़ा है और उनकी ओर देखकर मुस्करा रहा है। अनेकानेक दिव्यानुभूतियों से लक्ष्मी देवी के मन में यह धारणा दृढ़ हो गयी थी कि श्रीरामकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं तथा सभी देवी-देवता उन्हीं में समाये हुए हैं।

लक्ष्मी देवी वैष्णव-मत की साधिका थीं तथा उनके पति का परिवार भी वैष्णव मतावलम्बी था। लक्ष्मी देवी की साधना से आकर्षित होकर अनेक वैष्णवो ने उनसे मन्त्र-दीक्षा ली थी। उनके शिष्यों की संख्या सौ से भी अधिक थी। लक्ष्मी देवी के सभी शिष्य श्रीरामकृष्ण देव के भी भक्त थे। आध्यात्मिक चर्चाओं में लक्ष्मी देवी बार बार ठाकुर के उपदेशों को उद्धृत करतीं एवं उनके जीवन के प्रेरक प्रसंगों को सुनाया करतीं। शिष्यों को गुरु-मन्त्र प्रदान करने के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण ठाकुर के समान ही उदार था तथा उन्होंने भी अनेक शिष्यों को उनकी रुचि के अनुसार विभिन्न देवी-देवताओं के मन्त्र प्रदान किये थे।

लक्ष्मी देवी श्री माँ सारदा की चिर सहचरी थीं। उन्होंने नौबतखाने में श्री माँ के साथ युगावतार की

लोकोत्तर लीलाओं को तो देखा ही था, कालान्तर में ठाकुर के तिरोधान के उपरान्त जब श्री माँ वृन्दावन गयीं, तब वे भी उनके साथ थीं। परवर्ती जीवन में वे अनेक बार तीर्थयात्रा में गयीं तथा पुरी, गया, काशी और गंगासागर के दर्शन किये। उनमें गंगा के प्रति उत्कट भक्ति थी। जब उनके शिष्यों ने दक्षिणेश्वर में उनके लिए मकान बनाने का विचार किया तो उन्होंने पूजाघर इतनी ऊँचाई पर बनवाने के लिए कहा, जहाँ से गंगा की पूर्ण झाँकी मिल सके। लक्ष्मी देवी गंगातट पर ही देह-त्याग करना चाहती थीं, पर उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकी।

लक्ष्मी देवी लगभग बीस वर्षों तक दक्षिणेश्वर में रहीं। फिर जब उनके शिष्यों ने उनके लिए पुरी में 'लक्ष्मी-निकेतन' नामक भवन बनवाया, तब वे वहाँ चली आयीं। उनका सारा जीवन तपस्यामय था। अनेकानेक अनुभवों को प्राप्त करने के बाद भी उनकी तपस्या चलती ही रही। वे तीन बजे रात को उठकर ध्यान-जप में बैठ जातीं तथा अनेक घण्टों तक जप करने के बाद नहा-धोकर फिर तपस्या में संलग्न हो जातीं। अपराह्ण और रात्रि में भी दो-दो घण्टे साधना में बीतते थे तथा रात्रि में भागवत-पाठ के बाद वे सोया करती थीं। यद्यपि लक्ष्मी देवी अनुपम भक्तिमयी और आनन्दमयी थीं, पर संसार से उन्हें तनिक भी लगाव नहीं था। इसलिए उन्होंने एक बार घोषणा की थी कि अगर

ठाकुर फिर से अवतार ग्रहण करेंगे, तो भले ही मेरे शरीर को तम्बाकू के पत्ते के समान टुकड़े-टुकड़े काट डाला जाय, पर में उनके साथ जन्म नहीं लूँगी। यह सुनते ही ठाकुर ने भी कहा था कि वे और उनका भक्त-समुदाय तो एक दूसरे में गुँथे, बहते हुए तिनकों के समान हैं। यदि उनका एक सिरा कोई खींचता है, तो पूरा का पूरा ही खिंच आता है।

लक्ष्मी देवी का सम्पूर्ण जीवन राधाकृष्णगत था। जब वे वृन्दावनविहारी की लीलाओं का आख्यान करतीं, तो उन्हें समय का ध्यान ही नहीं रहता था। एक बार उन्होंने प्रातःकाल ९ बजे से भगवच्चर्चा आरम्भ की। रात्रि हो गयी, पर उनकी वाणी नहीं रुकी। अन्ततः शिष्यों के अनुरोध पर उन्होंने अपना प्रवचन समाप्त किया। वे स्वयं को वृन्दावन की गोपिका समझती थीं। यद्यपि वे बहुत मृदुल स्वभाव की थीं, तथापि वैष्णव-विश्वासों के विरुद्ध कोई कार्य होता देखतीं तो अत्यन्त कठोर बन जाती थीं। एक बार कामारपुकुर के शीतला-मन्दिर में एक प्रतिष्ठित सज्जन ने बकरा-बलि करने का संकल्प किया। जब लक्ष्मी देवी को यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उन्होंने इस कार्य का इतना प्रखर विरोध किया कि उक्त सज्जन को अपना विचार बदल देना पड़ा।

यद्यपि लक्ष्मी देवी भावावेश में उन्मुक्त रूप से भक्ति के पदों का गायन करतीं और उनके चरण थिरक

उठते थे, तथापि उनकी इस अनुपम भंगिमा के दर्शन अत्यन्त अन्तरंग व्यक्ति ही कर सके थे। एक बार भगिनी निवेदिता ने भी लक्ष्मी देवी के भावाविष्ट नर्तन-गायन का अवलोकन किया था। उस दिन गोलाप-माँ ने पथुरियाघाट के ठाकुर-परिवार से वस्त्र और अलंकार लेकर लक्ष्मी देवी को वृन्दा के रूप में सजा दिया था। चिरविरहिणी गोपिका वृन्दा के रूप में लक्ष्मी देवी ने दो घण्टे तक श्रोताओं को अपनी मधुर स्वरलहरी से मन्त्र-मुग्ध बनाये रखा था। भगिनी निवेदिता के अनुरोध पर उन्होंने दो रामप्रसादी गीत भी सुनाये थे। अन्त में भगिनी निवेदिता सिंहनी बनकर गर्जना करते हुए कमरे में घूमने लगीं और लक्ष्मी देवी जगद्धात्री के रूप में उन पर आसीन हो गयीं। पर ऐसी बातें केवल अन्तरंग लोगों तक ही सीमित थीं। अन्य लोगों के समक्ष लक्ष्मी देवी अत्यन्त सलज्ज हो उठतीं तथा अपने भावों को संयमित किये रहतीं।

भक्तों के अनुरोध पर लक्ष्मी देवी सन् १९२४ ई. के फरवरी मास में पुरी पहुँचीं और दो वर्षों के उपरान्त २४ फरवरी, सन् १९२६ ई. को वे श्री बलराम के चरणों में लौट गयीं।

●

गीता प्रवचन-१२

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

(ततः) तब (श्वेतैः हयैः) सफेद घोड़ों से (युक्ते) युक्त (महति) बड़े भारी (स्यन्दने) रथ में (स्थितौ) बैठे हुए (माधवः) माधव (च) एवं (पाण्डवः) पाण्डव [यानी अर्जुन] ने (एव) भी (दिव्यौ) दिव्य (शंखौ) शंख (प्रदध्मतुः) बजाये।

"तब सफेद घोड़ों से युक्त बड़े भारी रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने भी अपने अलौकिक शंख बजाये।"

पांचजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

(हृषीकेशः) कृष्ण ने (पांचजन्यं) पांचजन्य [नामक शंख] (धनंजयः) धनंजय ने (देवदत्तः) देवदत्त [नामक शंख] (भीमकर्मा) भयानक कर्म करनेवाले (वृकोदरः) वृकोदर [भीम] ने (महाशंखं) महान् शंख (पौण्ड्रं) पौण्ड्र नाम का (दध्मौ) बजाया।

"श्रीकृष्ण ने पांचजन्य नामक और अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख बजाया। भयानक कर्म करनेवाले बाघ के-से उदर वाले भीम ने पौण्ड्र नामक अपना महान् शंख बजाया।"

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

(कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः) कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने (अनन्तविजयं) अनन्तविजय (नकुलः) नकुल (सहदेवः च) और सहदेव ने (सुघोषमणिपुष्पकौ) सुघोष और मणिपुष्पक।

"कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल ने सुघोष और सहदेव ने मणिपुष्पक नाम का शंख बजाया।"

पिछले प्रवचन में हमने देखा कि कौरवों ने प्रथम शंखनाद कर अपनी आक्रामकता सिद्ध कर दी। पाण्डवों पर युद्ध थोप दिया गया। अतएव यह उचित था कि पाण्डवगण युद्ध को स्वीकार करते। उपर्युक्त तीन श्लोकों में पाँचों पाण्डवों तथा श्रीकृष्ण के द्वारा शंख फूँकते हुए कौरवों की युद्ध को चुनौती को स्वीकार किया गया है।

यहाँ एक बात दर्शनीय है कि पाण्डवों की ओर से सर्वप्रथम युद्ध का बिगुल भगवान् कृष्ण ने बजाया। इससे मानो यह सूचित किया गया कि भले ही मैंने युद्ध-भूमि में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की हो, तथापि पाण्डवों की ओर से युद्ध का संचालक तो मैं ही हूँ। यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'माधव' और 'हृषीकेश' ये दो नाम आये हैं। इन नामों की व्याख्या करते हुए संजय राजा धृतराष्ट्र से (उद्योग०,७० / ४,९) कहते हैं——

'मौनाद् ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।'
'हर्षात् सुखात् सुखैश्वर्याद्धृषीकेशत्वमश्नुते।'

——"भारत! मौन, ध्यान और योग से उनका बोध अथवा साक्षात्कार होता है, इसलिए आप उन्हें 'माधव' समझें।" तथा, "वे हर्ष अर्थात् सुख से युक्त होने के

कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण 'ईश' कहे गये हैं। इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं।"

'माधव' शब्द की व्युत्पत्ति यों भी करते हैं— 'मा: (लक्ष्म्या:) धव: (पति:)'— यानी लक्ष्मी का पति। तात्पर्य यह कि जहाँ लक्ष्मीपति युद्ध के नेता हैं, वहाँ उनको छोड़कर विजयलक्ष्मी कहाँ जा सकती है! उसी प्रकार, 'हृषीकेश' शब्द की भी एक दूसरे प्रकार से व्युत्पत्ति की गयी है। 'हृष्' धातु का अर्थ होता है आनन्द देना। इन्द्रियाँ मनुष्य को आनन्द देती हैं, इसलिए उन्हें 'हृषीक' कहते हैं। अत: 'हृषीकेश' का अर्थ हुआ हृषीक का ईश यानी इन्द्रियों का राजा। जो इन्द्रियों का स्वामी हो वह हुआ हृषीकेश।

इस श्लोक में अर्जुन के रथ का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, साथ ही रथ में जुते हुए घोड़ों का भी। गीता में अन्य किसी के रथ और घोड़ों का उल्लेख नहीं। यह विशेष उल्लेख सम्भवत: इसलिए हुआ है कि अर्जुन के रथ की विलक्षणता है। युद्ध में अन्य सभी के रथ टूटे और घोड़े मरे, पर अर्जुन का न तो रथ टूटा और न कोई घोड़ा मरा। इस रथ और इन घोड़ों का अपना एक विशेष इतिहास है।

प्राचीन काल में श्वेतकि नाम का एक बड़ा ही बलशाली और पराक्रमी राजा था। कहते हैं कि उसके यज्ञ में घी की आहुतियाँ पी-पीकर अग्निदेवता ऐसे छके कि

उनकी पाचनशक्ति क्षीण हो गयी, रंग फीका पड़ गया और प्रकाश मन्द हो गया। अजीर्ण से उनका अंग-अंग ढीला पड़ गया। वे ब्रह्मा के पास गये और उनसे रोग-मुक्ति का उपाय पूछा। ब्रह्माजी ने कहा, "अग्निदेव! अगर तुम खाण्डव वन को जला दो, तो तुम्हारी अरुचि और अजीर्ण दूर हो जायँ और तुम्हारी ग्लानि भी मिट जायगी।" तब अग्निदेव ने सात बार खाण्डव वन को जलाने की चेष्टा की, पर इन्द्र के संरक्षण के कारण वे सातों बार असफल रहे। जब अग्निदेव निराश हो दुबारा ब्रह्माजी के पास पहुँचे तो उन्होंने अग्नि को भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के माध्यम से खाण्डव वन जलाने का उपाय बतलाया।

एक दिन अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ यमुना-पुलिन पर जल-विहार के लिए गये हुए थे। वहाँ उनके सामने एक ब्राह्मण आया और भिक्षा की माँग की। जब अर्जुन ने भिक्षा देनी चाही, तो ब्राह्मण ने अपना असली परिचय दिया और कहा कि "मैं साधारण अन्न नहीं चाहता। मैं अग्नि हूँ, मैं खाण्डव वन को जला डालना चाहता हूँ। आपकी इसमें सहायता चाहिए।" यह सुन अर्जुन बोले, "अग्निदेव! मेरे पास दिव्यास्त्रों की कमी नहीं है। उनके द्वारा मैं इन्द्र को भी युद्ध में छका सकता हूँ। परन्तु मेरे बाहुबल को सँभाल सकनेवाला धनुष मेरे पास नहीं है और न उन अस्त्रों के उपयुक्त बाण ही हैं। रथ भी तो ऐसा नहीं है, जो यथेष्ट बोझ ढो सके। श्रीकृष्ण के पास

भी ऐसा कोई शस्त्र इस समय नहीं है, जिससे ये युद्ध में नागों और पिशाचों को मार सकें। खाण्डव वन को जलाते समय इन्द्र को रोकने के लिए युद्ध-सामग्री की आवश्यकता है। बल और कौशल हमारे पास है, सामग्री आप दीजिए।"

अर्जुन की समयोचित वाणी सुन अग्नि नें जलाधिपति लोकपाल वरुण का स्मरण किया और उनकी सहायता से अग्नि ने अर्जुन को अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष तथा वानर चिह्नयुक्त ध्वजा से मण्डित दिव्य रथ दिला दिया। गाण्डीव धनुष के सम्बन्ध में तो कहा जाता है कि वह किसी भी शस्त्र से नहीं कटता और सभी शस्त्रों को काट सकता है। उससे योद्धा का बल, कान्ति और यश बढ़ता है। वह अकेले ही लाखों धनुषों के समान है और क्षत-रहित तथा पूज्य है। उसी प्रकार वह रथ सबके लिए अजेय था, सूर्य के समान देदीप्यमान और रत्नजटित था। उसमें मन और पवन के समान तेज चलनेवाले सफेद, चमकीले, हार पहने हुए गन्धर्व देश के घोड़े जुते हुए थे। रथ पर सुवर्ण के डंडे में भयंकर वानर के चिह्न से चिह्नित ध्वजा फहरा रही थी।

दुर्योधन ने एक बार संजय से अर्जुन के रथ आदि के सम्बन्ध में पूछते हुए (उद्योग०, ५६।६) कहा था--

प्रशंसस्यभिनन्दंस्तान् पार्थानक्षपराजितान्।
अर्जुनस्य रथे ब्रूहि कथमश्वाः कथं ध्वजाः॥

--"संजय! तुम तो जुए में हारे हुए कुन्तीपुत्रों का

अभिनन्दन करते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगे। बताओ तो सही, अर्जुन के रथ में कैसे घोड़े और कैसे ध्वज हैं ?"

तब संजय ने उत्तर देते हुए दुर्योधन से कहा था--"राजन् ! उस रथ की ध्वजा में देवताओं ने माया से अनेक प्रकार की छोटी-बड़ी दिव्य और बहुमूल्य मूर्तियाँ बनायी हैं। पवननन्दन हनुमानजी ने उस पर अपनी मूर्ति स्थापित की है और वह ध्वजा सब ओर एक योजन तक फैली हुई है। विधाता की ऐसी माया है कि वृक्षादि के कारण भी इसकी गति में कोई बाधा नहीं आती। अर्जुन के रथ में चित्ररथ गन्धर्व के दिये हुए वायु के समान वेगवाले सफेद रंग के उत्तम जाति के घोड़े जुते हुए हैं। उनकी गति पृथ्वी, आकाश और स्वर्गादि किसी भी स्थान में नहीं रुकती तथा उनमें से यदि कोई मर जाता है, तो वर के प्रभाव से उसकी जगह नया घोड़ा उत्पन्न होकर उनकी सौ की संख्या में कभी कमी नहीं आती।"

ऐसे दिव्य रथ में बैठ श्रीकृष्ण और अर्जुन ने दिव्य शंख फूँके। भगवान् कृष्ण ने 'पांचजन्य' नामक शंख बजाया। इस शंख के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह श्वेत वर्ण का है, वह शत्रुओं के रोंगटे खड़े कर देता है। इस शंख की ध्वनि ने समुद्र को विक्षुब्ध कर दिया था--'तस्य शंखस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम्'। वैसे 'पांचजन्य' शब्द का अर्थ होता है--'पाँच का हित करनेवाला'। या तो कहें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और वर्णसंकरों का

प्रतिनिधि निषाद--इन पाँचों प्रकार के मनुष्यों का हित करनेवाला, या कहें कि देवता, पितर, ऋषि, गन्धर्व और असुर इन पाँचों प्रकार की देवयोनियों का हित करनेवाला, या फिर कह लें कि पाँचों पाण्डवों का हित करनेवाला।

धनंजय ने देवदत्त फूंका। यहाँ अर्जुन के लिए 'धनंजय' शब्द का उपयोग हुआ है। स्वयं अर्जुन अपने इस नाम की व्याख्या राजकुमार उत्तर के समक्ष करते हुए कहते हैं (विराट०, ४४।१३)--

सर्वाञ्जनपदान् जित्वा वित्तमादाय केवलम्।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनंजयम्॥

--"मैं सम्पूर्ण देशों को जीतकर और उनसे (कर-रूप में) केवल धन लेकर धन के ही बीच में स्थित था, इसलिए लोग मुझे 'धनंजय' कहते हैं।"

अर्जुन को यह 'देवदत्त' नामक शंख मय दानव से प्राप्त हुआ था। जब श्रीकृष्ण और अर्जुन की सहायता से अग्निदेवता ने खाण्डव वन का दाह किया, तब मय दानव अपने प्राण बचाकर भागा। श्रीकृष्ण ने उस पर अपना चक्र छोड़ा। तब मय अर्जुन की शरण में आ गया और इस प्रकार उसके प्राणों की रक्षा हुई। उसने कृतज्ञतापूर्वक बाद में अर्जुन को यह 'देवदत्त' नामक शंख भेंट में दिया था। इस शंख की गम्भीर ध्वनि से तीनों लोक काँप उठते थे। मयासुर इस शंख के सम्बन्ध में अर्जुन से कहता है (सभा०, ३।८)--

'वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।'
—'वहाँ वरुणदेव का देवदत्त नामक महान् शंख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है ।'

फिर महाभारत में ही वनपर्व में (१७४।५) यह भी मिलता है कि अर्जुन युधिष्ठिर को 'देवदत्त' शंख की प्राप्ति की बात बतलाते हुए कहते हैं—

'देवदत्तं च मे शंखं पुनः प्रादान् महारवम् ।'
—'फिर देवेश्वर इन्द्र ने बड़े जोर की आवाज करनेवाला यह देवदत्त नामक शंख मुझे प्रदान किया ।' अब यह निश्चय करना कठिन है कि अर्जुन ने यह 'देवदत्त' इन्द्र से प्राप्त किया या मय दानव से । देवदत्त शंख के सम्बन्ध में हमें महाभारत में ही कुछ और विवरण प्राप्त होते हैं । विराटपर्व में वह प्रसंग आता है जब अर्जुन बृहन्नला के रूप में राजकुमार उत्तर को साथ ले कौरवों द्वारा हरे गये पशुओं को छुड़ाने के लिए जाते हैं । वहाँ अर्जुन उत्तर को अपना असली परिचय देते हैं और बाद में अपने देवदत्त शंख को फूँकते हैं (विराट०, ४६।८-९)—

स्वनवन्तं महाशंखं बलवानरिमर्दनः ।
प्राधमद् बलमास्थाय द्विषतां लोमहर्षणम् ।।
ततस्ते जवना धुर्या जानुभ्यामगमन्महीम् ।
उत्तरश्चापि संत्रस्तो रथोपस्थ उपाविशत् ।।

—'उस समय शत्रुमर्दन महाबली अर्जुन ने घोर शब्द करनेवाले अपने महान् शंख को खूब जोर लगाकर बजाया, जिसकी आवाज सुनकर शत्रुओं के रोंगटे खड़े हो गये ।

उस शंखध्वनि से घबराकर रथ के वेगशाली घोड़ों ने भी धरती पर घुटने टेक दिये और उत्तर भी अत्यन्त भयभीत हो रथ के ऊपरी भाग में जहाँ रथी का स्थान है, आ बैठा ।'

उत्तर को घबड़ाया देख अर्जुन उससे पूछते हैं, 'तुमने तो बहुत बार शंखध्वनि सुनी होगी । रणभेरियों के भयंकर शब्द भी बहुत बार तुम्हारे कानों में पड़े होंगे और व्यूहबद्ध सेनाओं में खड़े हुए चिग्घाड़ने वाले गजराजों के शब्द भी तुमने सुने ही होंगे । फिर यहाँ इस शंखनाद से तुम भयभीत कैसे हो गये ? साधारण मनुष्यों के समान अधिक डर जाने के कारण तुम्हारे शरीर का रंग फीका कैसे पड़ गया ?" इस पर उत्तर ने कहा, "वीरवर ! इसमें सन्देह नहीं कि मैंने बहुत बार शंखध्वनि सुनी है, रणभेरियों के भयंकर शब्द भी बहुत बार मेरे कानों में पड़े हैं और व्यूहबद्ध सेनाओं में खड़े हुए चिग्घाड़ने वाले गजराजों के शब्द भी मैंने सुने हैं । परन्तु आज के पहले कभी ऐसा भयंकर शंखनाद मेरे सुनने में नहीं आया था !"

स्वयं अर्जुन संजय को दुर्योधन के लिए सन्देशा देते हुए कहते हैं (उद्योग०, ४८।६४)—

यदा रथे गाण्डिवं वासुदेवं
दिव्यं शंखं पांचजन्यं हयांश्च ।
तूणावक्षय्यौ देवदत्तं च मां च
द्रष्टा युद्धे धार्तराष्ट्रोऽन्वतप्स्यत् ।।

—"जब धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन रथ पर मेरे गाण्डीव धनुष

को, सारथि भगवान् श्रीकृष्ण को, उनके दिव्य पांचजन्य शंख को, रथ में जुते हुए दिव्य घोड़ों को, बाणों से भरे हुए दो अक्षय तूणीरों को, मेरे देवदत्त नामक शंख को और मुझको भी देखेगा, उस समय युद्ध का परिणाम सोचकर उसे बड़ा सन्ताप होगा।"

'अनन्तविजय' वरुणदेवता का कलशोदधि शंख था, जिसे ब्रह्मा ने इन्द्र को दिया था, वरुण से वह कृष्ण के पास आया और कृष्ण ने उसे युधिष्ठिर को राज्याभिषेक के समय भेंट में दिया। यह वर्णन हमें सभापर्व में प्राप्त होता है, जहाँ दुर्योधन धृतराष्ट्र को राजसूय यज्ञ में युधिष्ठिर को मिली नाना प्रकार के बहुमूल्य भेंटों की जानकारी देता है।

यहाँ शंख बजाने का क्रम भी दर्शनीय है। भगवान् श्रीकृष्ण सर्वप्रथम शंखनाद करते हैं और इससे मानो यह सूचित करते हैं कि वे ही पाण्डवों के सेनानायक हैं। भीम युद्ध के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं और पाण्डवों में से उन्हीं को प्रथम शंखनाद करना था। वैसे भी, महाभारत में कौरव और पाण्डव पक्ष की सेनाएँ क्रमशः 'भीष्मनेत्र' और 'भीमनेत्र' के नाम से पुकारी भी गयी हैं। कौरवों की ओर से जब प्रथम शंख भीष्म नें फूँका, तो इधर पाण्डवों की ओर से भीम को फूँकना था। पर भीम के पहले अर्जुन शंख फूँक देते हैं और भीम यही चाहते भी हैं। भीम जानते हैं कि अर्जुन इस युद्ध को उतना नहीं चाहते। अतएव, कहीं अर्जुन अपने पैर

पीछे न कर दें, इस डर से उनके द्वारा ही युद्ध का बिगुल बजवाना उन्होंने पसन्द किया। युधिष्ठिर सब भाइयों में बड़े थे, अतः उन्हीं को सर्वप्रथम शंख फूँकना था। पर वे शान्तिप्रिय हैं और उनमें संग्राम की इच्छा नहीं के बराबर है। पर जब दो भाइयों नें बिगुल बजा दिया, तो वे भी मानो लाचार होकर बजाते हैं।

यहाँ पाण्डवों के शंखों के नाम देकर विशेषता स्थापित कर दी। कौरवपक्ष के किसी भी शंख का नामोल्लेख नहीं है। फिर, पाण्डवों की ओर के शंखों के नाम पाण्डवों की विजय ही सूचित करते हैं।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक् पृथक् ॥१८॥

(काश्यः च परमेष्वासः) महाधनुर्धारी काशीनरेश (महारथः शिखण्डी च) और महारथी शिखण्डी (धृष्टद्युम्नः) धृष्टद्युम्न (विराटः च) और विराट (अपराजितः सात्यकिः च) और अजेय सात्यकि (पृथिवीपते) हे पृथ्वीनाथ (द्रुपदः) [राजा] द्रुपद (द्रौपदेयाः च) और द्रौपदी के पुत्र (च) और (महाबाहुः) महाबाहु (सौभद्रः) सुभद्रा-पुत्र [अभिमन्यु] (सर्वशः) सभी लोगों ने (पृथक् पृथक्) अलग अलग (शंखान्) शंख (दध्मुः) बजाये।

(संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं—) "हे पृथ्वीनाथ! महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न और विराट, अजेय सात्यकि, द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र तथा महाबाहु सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने भी सब ओर से अलग अलग शंख बजाये।"

वैसे शिखण्डी कोई ऐसा वीर नहीं था कि उसे महारथी की पदवी दी जाती । पर चूँकि भीष्म पितामह का युद्ध में पतन उसी के हाथों से होना है, इसलिए यह विशेषण उसके लिए लगा दिया गया ।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

(च) और (सः) वह (तुमुलः) घोर (घोषः) आवाज (नभः पृथिवीं च) आकाश और धरती को (व्यनुनादयन्) दहलाते हुए (धार्तराष्ट्राणां) धृतराष्ट्र के दल के (हृदयानि) हृदयों को (व्यदारयत्) विदीर्ण करने लगी ।

"वह घोर आवाज धरती और आकाश को दहलाते हुए धृतराष्ट्र के दल के हृदयों को विदीर्ण करने लगी ।"

ऊपर तेरहवें श्लोक में कहा गया है कि कौरवों ने युद्ध के जो बाजे बजाये, उन सबका सम्मिलित स्वर 'तुमुल' हुआ । यहाँ पर यह बताया कि पाण्डवों द्वारा किया गया शब्द भी 'तुमुल' हुआ । पर दोनों में एक अन्तर है । पहले यह नहीं बताया गया कि कौरवों के तुमुल शब्द की पाण्डवों पर कोई प्रतिक्रिया हुई, जबकि यहाँ यह बताया जा रहा है कि पाण्डवों के तुमुल शब्द ने कौरव दल के लोगों का हृदय विदीर्ण कर दिया । यह भी मानो पाण्डवों की विजय की सूचना है । वैसे, कौरवों की सेना पाण्डवों की सेना से एक-तिहाई अधिक थी, तथापि उस पर ऐसी प्रतिक्रिया का होना उसकी पराजय का ही सूचक है ।

यह भी कहा जा सकता है कि कौरवों का पक्ष अधर्म

का पक्ष था, इसलिए उनके हृदयों का काँप जाना अस्वाभाविक नहीं है। अपराधी-हृदय ऐसा ही डरा करता है। पाण्डवगण सत्य और न्याय के लिए युद्ध कर रहे थे, और जहाँ सत्य और न्याय है, वहाँ निर्भीकता है। फिर, यह भी सम्भव है कि कौरवों ने यह कल्पना न की हो कि पाण्डव तेरह वर्षों तक निर्वासित रहने के बावजूद इतनी बड़ी सेना इकट्ठी कर लेंगे। कौरवों ने जान तो लिया था कि पाण्डवों ने सात अक्षौहिणी सेना खड़ी कर ली है, पर उन्हें इसकी विशालता का बोध तब हुआ जब पाण्डव-पक्ष ने कौरवों की चुनौती को स्वीकार करते हुए युद्ध का बिगुल बजाया। और इस बोध ने उन्हें भयभीत कर उनका हृदय विदीर्ण कर दिया!

(क्रमशः)

●

अपनी वर्तमान अवस्था के जिम्मेदार हम ही हैं, और जो कुछ हम होना चाहें, उसकी शक्ति भी हमीं में है। यदि हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही पूर्व कर्मों का फल है, तो यह निश्चित है कि जो कुछ हम भविष्य में होना चाहते हैं, वह हमारे वर्तमान कार्यों द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। अतएव हमें यह जान लेना आवश्यक है कि कर्म किस प्रकार किये जायँ।

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द : जीवन और दर्शन

गोपाल स्वरूप पाठक

(महामहिम श्री गोपाल स्वरूप पाठक भारत के उप-राष्ट्रपति हैं। विगत ९ जनवरी, १९७२ को उन्होंने रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर द्वारा आयोजित तीन सप्ताह व्यापी 'विवेकानन्द जयन्ती समारोह' का उद्‌घाटन करते हुए जो भाषण दिया था, वही यहाँ पर पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।--सं.)

अध्यक्ष महोदय, माननीय स्वामीजी, शुक्लाजी, महन्तजी, देवियो और सज्जनो !

मेरे लिए यह एक गौरव की बात है कि मुझे इस शुभ अवसर पर, स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती के दिन, यहाँ आमन्त्रित करके आपसे मिलने का मौका दिया गया। मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि मैं यहाँ आया और इस आश्रम के कार्य से परिचित हुआ। मैंने अस्पताल भी देखा, लायब्रेरी भी देखी और जो कार्य यहाँ होते हैं उनका हाल मुझे मालूम हुआ। मैं आश्रम को और यहाँ के नगर-निवासियों को बधाई देता हूँ कि वे इस काम में सहयोग दे रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द एक महान् विभूति थे। कहा जाता है कि आजकल के जमाने में जो समस्याएँ हैं, उनका उत्तर स्वामीजी ने जो शिक्षा दी, उसमें मिलता है। मैं यह समझता हूँ कि स्वामीजी के जीवन और

उनके उपदेशों से, न केवल इस देश को बल्कि सारे संसार को, न ही आजकल, बल्कि हमेशा फायदा पहुँचता रहेगा। स्वामीजी ने अपने जीवन से, अपने उपदेश से, वे बातें हमें बतायीं जो हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता, हमारे धर्म का बहुत बड़ा अंग हैं। हमारे देश पर आक्रमण हुए, बहुत उथल-पुथल हुई, बहुत तबदीलें हुईं। पर कौनसी ऐसी बात है जिससे हमारी पुरानी सभ्यता, हमारी प्राचीन संस्कृति आज भी वैसे ही बची हुई है और हमारे जीवन की क्रियाओं में नजर आती है? जब स्वामीजी पैदा हुए थे, उस वक्त इस देश की परिस्थिति अच्छी नहीं थी। समाज में कुरीतियाँ थीं, धर्म में बहुत से superstitions (अन्धविश्वास) पैदा हो गये थे। धर्म बड़ा तंग हो गया था। स्वामीजी ने एक बार कहा था कि हमारे देश में, हमारे धर्म और समाज के चारों तरफ दीवारें खड़ी कर दी गयी हैं। इन दीवारों को तोड़ना है। उन्होंने कहा था—जनता से प्यार असली जीवन है, दूसरों से नफरत मौत है। उन्होंने कहा था—उदार होना जीवन है, तंग होना मौत है। ये उनके शब्द हैं। तो ऐसे समय उन्होंने जन्म लिया जब हम दूसरे देश के गुलाम थे। हमें कोई सुविधा नहीं थी। हमारे यहाँ बहुत ज्यादा गरीबी थी और दूसरा देश जो हम पर हुकूमत कर रहा था, हमारी गरीबी को दूर करने के लिये ध्यान भी नहीं देता था। ऐसे समय

स्वामीजी आये और उन्होंने भगवान् परमहंस राम-कृष्ण को अपना गुरु बनाया। भगवान् रामकृष्ण ने तपस्या से मिली अपनी सारी शक्ति विवेकानन्द को दे दी; और उसका नतीजा यह हुआ कि स्वामी विवेकानन्द, अपने ही शब्दों में, Condensed India (घनीभूत भारत) बन गये, सारे भारत के प्रतीक बन गये। उनके जीवन में कूट-कूटकर सारा भारत भरा हुआ था। उस वक्त तक बाहर के देश के लोगों ने हमारी किताबें कुछ पढ़ी थीं। हमारी किताबों का अनुवाद पढ़कर वे हमारे देश की फिलॉसफी की, हमारे देश की संस्कृति की प्रशंसा करते थे। परन्तु किताब का पढ़ना एक चीज है और अपने जीवन में संस्कृति लाना, उसमें धर्म लाना, वेदान्तिक धर्म को उतारना दूसरी चीज है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन में, उनके रोम-रोम में हमारे देश की संस्कृति भरी हुई थी। बाहर के देशों को हमारी संस्कृति का हाल मालूम होता था किताबों के माध्यम से। पर एक ऐसा मौका आया जब स्वामीजी ने देश के बाहर जाने का निर्णय लिया ताकि बाहर के लोग जीते-जागते धर्म को, भारत की जीती-जागती संस्कृति को अपनी आँखों से देख सकें। आपको मालूम होगा कि स्वामीजी ने देश का खूब भ्रमण किया और इस भ्रमण में कष्ट भी बहुत सहे थे। स्वामीजी भ्रमण करते करते कन्याकुमारी पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने कन्याकुमारी

देवी के दर्शन किये। वह मन्दिर बहुत बड़ा है। वे दर्शन कर समुद्र तट से कुछ दूर एक पत्थर पर तैरकर जा पहुँचे। वहाँ बैठकर उन्होंने ध्यान किया। परमेश्वर का ध्यान किया, अपने गुरु का ध्यान किया, अपने देश का ध्यान किया। उस वक्त उनको यह प्रेरणा मिली कि तुम पश्चिम को जाओ, पश्चिम के देशों में जाकर वेदान्त का प्रचार करो। विदेशों में भारत की इस संस्कृति का प्रसार करो और विश्व के लोगों की जो तकलीफें और समस्याएँ हैं उनको हल करने का रास्ता बताओ। उस वक्त उस चट्टान पर बैठे हुए स्वामीजी ने यह निश्चय किया कि मैंने अपने देश में तो काफी भ्रमण किया, अब मैं पश्चिम के देशों में भी जाऊँगा। वह १८९३ ईस्वी का साल था। शिकागो में Parliament of Religions (धर्म-महासम्मेलन) का समारोह था। उस समारोह में स्वामीजी गये और जब उन्होंने भारत की संस्कृति और वेदान्त पर भाषण दिया, तो सब लोग चकित हो गये और कहने लगे कि इस Parliament of Religions में सबसे ऊँचा व्यक्ति यह संन्यासी है। उस वक्त उन्हें इतनी शोहरत, इतनी प्रसिद्धि मिली, जितनी कि किसी को अधिक से अधिक मिल सकती है। पर उनका दिल तो भारत के गरीबों के लिए रोता था। उन्हें जो कुछ पैसे या डालर मिलते, वह सब वे देश के गरीबों के लिये भेज देते। उन्हीं दिनों जब उनकी

शोहरत सबसे ऊँची थी, उनकी प्रसिद्धि अमेरिका में, पश्चिम के देशों में और विश्व के कोने कोने में फैल गयी थी, तो एक रात अपने देश की गरीबी की याद कर वे बहुत रोये, और रो-रोकर जगदम्बा से कहा, "माता ! तू मुझे रास्ता दिखा जिससे मैं अपने देश के गरीबों की गरीबी दूर कर सकूँ । तू मुझे उपाय बता ताकि मैं गरीबों की सेवा कर सकूँ ।" उनसे किसी ने पूछा कि ईश्वर कहाँ है ? तो उन्होंने गरीबों, दुखियों और पीड़ितों की तरफ इशारा करके बताया कि ईश्वर यहाँ है, इनमें है; ये ईश्वर हैं । "दरिद्र-नारायण" यह नया शब्द उन्होंने गढ़ा और उसका अर्थ हमें बताया । उन्होंने हमें सबक दिया कि दुःखी की सेवा करना, गरीब की सेवा करना ही ईश्वर की पूजा करना है । और अपनी सारी उम्र वे यही सेवा करते रहे । उन्होंने जिस भाव की सीख दी, वह हम लोगों के जीवन में, हमारी नीतियों में कूट-कूटकर भरा हुआ है ।

उदाहरण के तौर पर मैं आपको बताना चाहता हूँ कि यह जो हमारी पाकिस्तान से लड़ाई हुई, वह कैसे हुई । उनके यहाँ elections हुए, चुनाव हुए । हमें उससे कोई मतलब नहीं था । पर उनके यहाँ बड़े बड़े अत्याचार हुए, और उससे सिर्फ हमीं को नहीं बल्कि दुनिया के सारे राष्ट्रों को मतलब था । उनके यहाँ से दुःखी होकर, तकलीफ उठाकर, तरह-तरह के अत्या-

चार सहन करके लाखों लोग भागकर हमारे देश में आने लगे। तो उस वक्त हमारे पास दो तरीके थे। एक तो यह था कि हम उनको अपने देश आने न देते, उनको पीछे ढकेल देते और जहाँ कत्लेआम हो रहा था वहाँ उनको कत्ल होने के लिये, मरने के लिये भेज देते। दूसरा रास्ता वह था जो हमारी संस्कृति ने दिखाया था। दुःखी चाहे किसी भी देश का रहनेवाला क्यों न हो, हम उसके लिए अपनी सेवा देंगे। मैं सीमा पर गया बँगला देश की, और मैंने देखा, वहाँ के कई लाख आदमी हमारे देश में आये हुए हैं—आदमी, औरत और बच्चे। मैंने देखा कि बहुत से कैम्प लगे हुए हैं। मैंने रामकृष्ण मिशन को भी वहाँ काम करते देखा, दूसरी संस्थाओं को भी देखा। मैं जब रामकृष्ण मिशन के कैम्प में पहुँचा तो देखा कि एक बड़े तम्बू में कई शरणार्थी बच्चे भरे हुए हैं। रामकृष्ण मिशन के जो कार्यकर्ता थे, उन्होंने मेरे हाथ में किताबें दीं और मुझसे कहा कि आप अपने हाथ से इन बच्चों को बाँट दीजिए। रामकृष्ण मिशन का अस्पताल भी था। अन्य दूसरी संस्थाएँ भी काम कर रही थीं। तो लड़ाई इस बात से हुई कि हमने उन लोगों को शरण दी, उनकी सेवा की। और पाकिस्तान ने पश्चिम में हम पर आक्रमण कर दिया! जो कुछ हमने बँगला देश की सेवा की, वह उस संस्कृति के कारण से की, उस धर्म के कारण से की, जो यहाँ

हजारों साल से चला आ रहा है, जो हमें सिखाता है कि कोई दुःखी हो तो उसकी सेवा करो; क्योंकि दुःखी में ईश्वर विराजता है और दुःखी की सेवा करना ईश्वर की पूजा करना है। स्वामी विवेकानन्द ने एक समय कहा कि कुछ देशों का यह तरीका होता है कि वे दूसरे देशों पर आक्रमण करते हैं, अत्याचार करते हैं जिससे वहाँ की स्त्रियाँ विधवा हो जायँ, वहाँ के बच्चे यतीम हो जायँ, वहाँ के लोग दुःखी हों। पर, उन्होंने कहा, मेरे देश का नियम है दुःखी की सेवा करना। हम अपनी ताकत, अपनी फौजी ताकत इसलिये न बढ़ायें कि दूसरे किसी को दुःख दें, बल्कि इसलिये बढ़ायें कि अपनी रक्षा करें और दूसरे की सेवा करें, यह भी स्वामीजी ने कहा।

तो, स्वामीजी ने जिस धर्म का हमें पाठ पढ़ाया वह सेवा का धर्म है, विश्व का धर्म है। उन्होंने बताया कि हमारा धर्म Universal है। भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि धर्म बहुत से हैं, रास्ते बहुत से हैं, तुम किसी भी रास्ते से आओ, मुझसे मिल सकते हो। हमारे धर्मशास्त्रों में लिखा है कि ये सारे धर्म नदियों की तरह हैं, बड़े दरियाओं की तरह हैं जो आखिर एक ही समुद्र में जाकर मिल जाते हैं। हमारे धर्म की Universality, हमारे धर्म की यह खूबी स्वामीजी ने बहुत अच्छे तरीके से सबको समझायी। जब वेदान्त कहता है कि ब्रह्म हरएक में है,

तब यह कैसे हो सकता है कि हम दूसरे से नफरत करें। नफरत करिये पाकिस्तान की सरकार से, वहाँ की जनता से नहीं, क्योंकि उनमें ऐसे लोग भी तो हो सकते हैं और हैं, जो ठीक बातों को समझते हैं। पाकिस्तान की सरकार ने हमेशा नफरत फैलायी। और हमने मुहब्बत फैलायी। यह है हमारा जीवन।

तो, स्वामीजी ने हमें प्यार का, दीन-दुखियों की सेवा का सबक सिखाया। उन्होंने कहा, आओ और देश के लिए काम करो और जब तक अपने उद्देश्य को न पा लो तब तक काम को न छोड़ो। स्वामीजी ने जिस समस्या को दूर करने के लिए जगन्माता से प्रार्थना की थी, वह समस्या आज भी हमारे सामने है और उसका हल भी उसी प्रकार से होगा जैसा कि स्वामीजी ने हमें बताया था। दूसरों का दर्द हमारा दर्द होना चाहिए। जहाँ लोग अशिक्षित हैं, जिनके पास शिक्षा नहीं गयी है, उनको शिक्षा देने में हमारा प्रयत्न होना चाहिए। यह जो आश्रम यहाँ काम कर रहा है, तथा ऐसे ही जो आश्रम स्वामी विवेकानन्द या परमहंस रामकृष्ण के नाम से सब जगह काम कर रहे हैं, बड़े उच्च आदर्शों और उच्च नीतियों को लेकर काम कर रहे हैं। ये वेदान्त के उसूलों पर काम कर रहे हैं। ये हमारे धर्म के अनुकूल काम कर रहे हैं। इन सब की हमें सहायता करनी होगी। मेरी आँखों के सामने हमेशा वह तस्वीर आती है जिसमें स्वामीजी खड़े हैं।

उनके सामने उनके गुरु भगवान् रामकृष्ण परमहंस की तस्वीर है और दूसरी तरफ माता सारदामणि की तस्वीर लगी हुई है। हर वक्त स्वामीजी को अपने गुरु का ख्याल रहता था और वे कहते थे, "मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। जो कुछ मेरे गुरु ने बताया, वही मैं कर रहा हूँ। जो कुछ मेरे गुरु ने मुझे सिखाया, वह यही है। मैंने कोई नयी बात नहीं कही है।"

इस तरह स्वामीजी ने इस देश के लिये अपना सारा जीवन लगा दिया। विश्व के कल्याण के लिये अपना समग्र जीवन न्योछावर कर दिया। हम सब लोगों का यह कर्तव्य है कि आज इस जयन्ती के दिन हम उनके जीवन की याद करें और उनके उपदेशों को अपने सामने रखें। उनकी तस्वीर को अपने सामने रख उनमें जो दृढ़ता थी, देशभक्ति थी उससे प्रेरणा लें तथा यह संकल्प करें कि जो कुछ उन्होंने हमें बताया उसको अपने जीवन में उतारने की कोशिश करेंगे।

मैं आप सबको धन्यवाद देता हूँ तथा इस आश्रम को अपनी शुभ कामनाएँ अर्पित करता हूँ। जय हिन्द !

•

केवल शिक्षा ! शिक्षा ! शिक्षा ! यूरोप के बहुतेरे नगरों में घूमकर और वहाँ गरीबों के भी अमन-चैन और विद्या को देखकर हमारे गरीबों की बात याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह अन्तर क्यों हुआ ? जवाब पाया--शिक्षा !

--स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्द : व्यक्ति और विचार

अनन्त गोपाल शेवड़े

(श्री अनन्त गोपाल शेवड़े 'नागपुर टाइम्स' नामक प्रसिद्ध अंग्रेजी दैनिक के संचालक एवं प्रमुख सम्पादक हैं तथा हिन्दी जगत् के मूर्धन्य साहित्यकारों में से हैं। उन्होंने विवेकानन्द जयन्ती समारोह के उद्घाटन के अवसर पर जो अध्यक्षीय भाषण दिया था, वही इस लेख के रूप में प्रस्तुत है।--सं.)

महामहिम उपराष्ट्रपतिजी, आदरणीय स्वामी आत्मानन्दजी, श्री विद्याचरणजी शुक्ल, महन्तजी और मित्रो !

आज हम लोग एक अलौकिक विभूति का पुण्य स्मरण करने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं। अभी आपने महामहिम उपराष्ट्रपतिजी के मुख से विवेकानन्दजी के जीवन-दर्शन के बारे में एक अत्यन्त सारगर्भित और गवेषणापूर्ण भाषण सुना। हम जितना स्वामीजी के व्यक्तित्व के बारे में विचार करते हैं, हम आश्चर्य से दंग रह जाते हैं। मुश्किल से ३९ वर्ष की उम्र उन्होंने पायी थी। इतने अल्पकाल में उन्होंने भारत का पाँच वर्षों के लिए परिभ्रमण किया --एक परिव्राजक की तरह, उसी रूप में जो चित्र आपको यहाँ मंच पर दिखायी देता है; दो बार विश्वपर्यटन किया तथा सारे संसार में भारत के अध्यात्मशास्त्र और वेदान्त की दुन्दुभि बजायी। लेकिन

इतनी जल्दी वे कैसे संसार को छोड़कर चले गये ? क्यों उनके जीवन की ज्योति इतने शीघ्र बुझ गयी ? क्या उसमें तेल कम था ? बात ऐसी नहीं है। तेल तो बहुत था, लेकिन वह बाती इतनी तेजस्विता के साथ प्रज्वलित हुई कि वह तेल जल्दी ही समाप्त हो गया। तथापि वह ज्योति आज भी हमें आलोकिक कर रही है एवं युग-युगान्तर तक, शताब्दियों तक हमारा पथ आलोकित और प्रशस्त करती रहेगी। तो, ऐसी क्या बात है, ऐसा क्या रहस्य है कि इतने कम समय में उन्होंने इतना अद्भुत पराक्रम करके बताया ? उनकी अपनी मातृभूमि पर अलौकित भक्ति थी, अनन्य प्रेम था। उनके कण-कण में, रोम-रोम में, श्वास-प्रश्वास में भारतमाता की आत्मा उच्छ्वसित होती थी। भारतीयों की दीन-हीन अवस्था को देखकर उनका हृदय द्रवित होता था। वे तो कहते थे कि मैं अपने देशवासियों के उद्धार के लिए शत सहस्र बार भी नरक में जाने को तैयार हूँ। मुझे भक्ति नहीं चाहिये, मुक्ति नहीं चाहिये। बस यही चाहता हूँ कि मेरा राष्ट्र तेजस्विता के साथ रहे और उसका प्रकाश सारे दिग्दिगन्त में, सारे विश्व में फैले। यही एक कामना ले वे विदेशों में गये। उनके अमेरिका जाने के पीछे यही प्रेरणा थी कि वह एक समृद्ध देश है और अगर मैं वहाँ के नागरिकों की इस देश की समस्याओं तथा इसकी स्वाधीनता की

आकांक्षाओं के प्रति कुछ सहानुभूति प्राप्त कर सकूँ, तो उससे मेरे राष्ट्र की सेवा होगी। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि पश्चिम की संस्कृति में डूबे हुए अमेरिका के पास मोटर है, सारे भोग-विलास और ऐश-आराम के साधन हैं, चेहरे पर मुस्कराहट है, पर यह सारी मुस्कराहट केवल ऊपरी है, भीतर उनके हृदय में एक प्रकार का रुदन है, हाहाकार है, उदासी है। अपने देश के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि भारत में आपको ऊपरी तौर पर दीन-दुःखियों का दर्द दिखायी देगा, लेकिन उनके अन्दर में आप पैठकर देखें तो आपको एक शान्ति की भावना, सन्तोष की भावना, एक सूक्ष्म आनन्द की भावना दिखायी देगी। इसका कारण, जैसा कि अभी महामहिम उपराष्ट्रपतिजी ने बताया, यह है कि हमारी संस्कृति हजारों वर्ष पुरानी है और वह हमारे रक्त में, रोम-रोम में भिद गयी है। उसी का प्रताप है जो ऐसी दृष्टि हमें प्राप्त हुई है।

स्वामीजी का कथन था कि प्रत्येक राष्ट्र की एक अस्मिता होती है, एक आत्मा होती है, एक उसका प्राण-केन्द्र होता है। अमेरिका की अस्मिता वाणिज्य-व्यवसाय में है: इंग्लैण्ड की डिप्लोमेसी में, राजनीति में; फ्रान्स की कला में; जर्मनी की विज्ञान में। उसी प्रकार भारत की अस्मिता अध्यात्म में है। और यदि राष्ट्र अपनी अस्मिता के अनुसार कार्य करेगा, तो

अधिक से अधिक विकास को प्राप्त कर सकेगा। स्वामीजी ने पश्चिमी देशों के लोगों से कहा कि तुम्हारा जीवन भौतिक समृद्धि से पूर्ण तो है, तुम्हें सब कुछ प्राप्त तो है, लेकिन आत्मा नहीं है। और भारत लौटकर यहाँ के लोगों से उन्होंने कहा, तुम धर्म की तो बहुत बात करते हो, लेकिन साथ ही तुममें थोड़ी पश्चिमी राष्ट्रों की वैज्ञानिक दृष्टि, अनुशासन की दृष्टि भी होनी चाहिए। इस प्रकार उन्होंने पूर्व और पश्चिम के लिये दो तरह के सन्देश दिये, जो मूल में वस्तुतः एक ही हैं। उन्होंने अध्यात्म और विज्ञान इन दोनों में समन्वय साधने की कोशिश की।

आखिर अध्यात्म का अर्थ क्या है? एक सरल अर्थ यही है कि यह जो सारी सृष्टि है, ब्रह्माण्ड है, इसके पीछे एक आत्मतत्त्व है और वही आत्मतत्त्व आपमें और हममें है, मनुष्य में है। स्वामीजी हमेशा कहते थे कि सृष्टि का सबसे बड़ा अगर कोई चमत्कार है, तो वह यह मनुष्य है। जैसा कि महाभारत में कहा है--'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'--मनुष्य से बढ़कर और कुछ नहीं है। अभी उपराष्ट्रपतिजी ने हमें बताया कि हमारे यहाँ मनुष्य की भव्यता पर, मानवजीवन की महानता पर जो एक जबरदस्त आस्था दिखायी देती है, वह भारत की विशेषता है। पश्चिम के एक राजनैतिक विचारक ने Dignity of Man (मनुष्य के बड़प्पन) को एक बड़े मूल्य के रूप में प्रस्तुत किया, और उसी पर

हमारा यह लोकतन्त्र आधारित है। लेकिन भारत ने उससे भी एक सीढ़ी ऊपर चढ़कर, Dignity of Man की बजाय Divinity of Man (मनुष्य के देवत्व) का प्रचार किया है। भारत में नागरिक को उसके अपने देवत्व का, दिव्यत्व का बल है। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए लोकतांत्रिक ढाँचे के इस आध्यात्मीकरण की ओर हमको जाना पड़ेगा। आज विश्व के चिन्तक विज्ञान की विध्वंसकारी उपलब्धियों के खतरों से बचने के लिए अध्यात्म की तरफ जा रहे हैं। आज विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय पर ही विश्व की समस्याओं का निराकरण निर्भर करता है, और यह समन्वय एकमात्र भारत ही प्रदान कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्दजी ने इसी समन्वय की ओर हम भारतीयों की दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित की। उन्होंने इस समन्वय की बुनियाद मनुष्य के दिव्यत्व में, उसमें निहित आत्मतत्त्व में देखी। उन्होंने उपनिषद् के ऋषि के स्वर में स्वर मिलाकर मानव-आत्मा का सम्मान करते हुए कहा—'शृणवन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः!' उन्होंने मनुष्य को 'अमृत का पुत्र' कहा। यह नहीं कहा कि उसका जन्म पाप में, अपराध में हुआ है, बल्कि कहा कि वह अमरत्व लेकर आया है। तो, मानवता के लिए इतना बड़ा आदर, इतनी बड़ी श्रद्धा हमें केवल भारत के अध्यात्म में दिखायी देती है। अस्तु।

विश्व-पर्यटन करने के बाद जब स्वामीजी कोलम्बो में आये तो उन्होंने भारतभूमि के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए कहा कि यह पुण्य भूमि है; यह साधना की, चिन्तन की, तपस्या की भूमि है। इसका सन्देश अध्यात्म का है, समन्वय का है। यही ऐसी भूमि है जो पश्चिम की यांत्रिक सभ्यता को अध्यात्म का आधार प्रदान कर सकती है। जब स्वामीजी का अन्तिम समय आया, तो उन्होंने एक सन्देश देते हुए कहा—'India is immortal if she persists in her search for God'—'जब तक भारत ईश्वर की खोज में लगा रहेगा, वह अमर रहेगा'। लेकिन अगर वह राजनीति के पीछे दौड़ेगा तो नष्ट हो जायगा। ऐसी कोई भी नीति जिससे संघर्ष पैदा होता हो, भारत के अनुकूल नहीं है।

आज स्वामीजी की इसी बात को हम सत्य साबित होते हुए देख रहे हैं। शान्ति की दुहाई देनेवाले तो बहुत से देश हैं, पर शान्ति के रास्ते पर चलनेवाला एकमात्र हमारा ही देश है। अभी अभी भारत-पाक युद्ध का जिक्र किया गया। यह भारत के लिए धर्म-युद्ध था। किसी भी राष्ट्र के इतिहास में इतने निःस्पृह भाव से कोई युद्ध नहीं लड़ा गया। इसमें एक इंच की भूमि का भी हमारा स्वार्थ नहीं था। यह तो मूल्यों का युद्ध था, आदर्शों का युद्ध था। यह शक्ति इस भारत में आखिर कहाँ से आयी? अपनी इसी गरिमामयी

परम्परा हो । अभी परसो पूना में हमारी प्रधान मंत्री में एक बड़ा सुन्दर भाषण हुआ । उन्होंने कहा कि अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए हम पश्चिमी लोगों की नकल नहीं करना चाहते । भला क्यों हम उनकी नकल करें? हमारा हजारों बरसों का अपना इतिहास है, परम्परा है, अपनी सभ्यता है । हम पश्चिम में जो अच्छी बात है उसको जरूर लेंगे, लेकिन उसको अपनी संस्कृति, अपनी जीवन-प्रणाली के साथ आत्मसात करके उसका उपयोग करेंगे । आज हमारे राष्ट्रने जो तेजस्विता दिखलायी है, मैं समझता हूँ, उसे देखकर स्वामी विवेकानन्दजी की आत्मा अवश्य प्रसन्न होगी । हाल के युद्ध के सन्दर्भ में आज उनका यह जयन्ती-समारोह मुझे विशेष सार्थक दिखायी देता है । इस शुभ और मंगल अवसर पर स्वामीजी के पुण्य चरणों में मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आप सब को धन्यवाद देता हूँ ।

●

> एक नवीन भारत निकल पड़े-निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुआ, मोची, मेहतरों की झोपड़ियों से । निकल पडे बनियों की दूकानों से, भुजवा के भाड़ के पास से, कारखाने से, हाट से, बाजार से, निकले झाड़ियों, जंगलों, पहाडों, पर्वतों से ।
>
> -स्वामी विवेकानन्द

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) जाकी रही भावना जैसी

एक बार विनोबाजी बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल श्री आर. आर. दिवाकर से मिलने गये, साथ में अन्य लोग भी थे। अँधेरा हो चला था, अतः कुछ स्पष्ट दिखायी न दे रहा था। राजभवन के प्रांगण में एक मूर्ति देख उन्होंने पूछा, "यह किसकी मूर्ति है?" एक साथी ने अनजाने में कह दिया, "महात्मा गाँधी की!" विनोबाजी ने सुना, तो उन्होंने उस मूर्ति का अभिवादन किया और उसकी प्रदक्षिणा कर प्रसन्नता से आगे बढ़े।

लौटते समय उस व्यक्ति ने जब मूर्ति को गौर से देखा, तो उसे दिखायी दिया कि वह मूर्ति पंचम जार्ज की है। वह विनोबाजी से बोला, "क्षमा करें, मैंने अज्ञानतावश इस मूर्ति को गाँधीजी की बताया था, वास्तव में यह तो पंचम जार्ज की है।" इस पर विनोबाजी बोले, "पहली बार जब मैंने इसे महात्मा गाँधी की मूर्ति समझकर प्रणाम किया था, उस समय इसमें बापू की पवित्र आत्मा विद्यमान थी। मेरी गोचर दृष्टि तेज नहीं है, लेकिन भावना अवश्य ही विशाल है। आप तो जानते ही हैं कि 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी'!"

(२) **समदर्शिता**

स्वराज्य-प्राप्ति के पूर्व की घटना है यह ! सरदार पटेल गाँधीजी के पास गये और उन्होंने पूछा, "अखबार में आया है कि लार्ड लिनलिथगो ने अपने भाषण की एक प्रति आपको पहले से ही भेज दी थी। क्या उन्होंने आपको सूचना मात्र देने हेतु भेजी थी, या संशोधन करने को ?"

गाँधीजी ने उत्तर दिया, "बिलकुल झूठी बात है यह। मेरे पास उनके भाषण की कोई प्रति नहीं आयी थी। वास्तव में तो उस भाषण में कोई सुधार या परिवर्तन की गुंजाइश भी न थी। वह भाषण तो फाड़कर फेंकने योग्य था !" सरदार बोले, "वह तो ठीक है, मगर मैंने यह देखा है कि आप सबको एक साथ खुश रखना चाहते हैं। आपने एक लेख में तो वाइसराय और सोशलिस्टों की भी प्रशंसा कर दी है !"

इस पर गाँधीजी हँसते हुए बोले, "बात यह है कि यह मेरी माताजी की दी हुई सीख का परिणाम है। वह मुझे वैष्णव-मन्दिर और शिव-मन्दिर दोनों स्थानों पर जाने को कहती थीं और हाँ, जब मेरा विवाह हुआ, तो हम सिर्फ हिन्दू-मन्दिर में ही नहीं गये थे, बल्कि फकीर की दरगाह पर भी दर्शन करने गये थे !"

(३) **सौजन्यता**

एक बार काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों ने एक मल्लाह की नौका को क्षति पहुँचा दी। इससे वह छात्रों

को तथा तत्कालीन उपकुलपति महामना मालवीयजी को कोसता हुआ मालवीयजी के निवास-स्थान पर आया। उस समय मालवीयजी के यहाँ कोई महत्त्वपूर्ण बैठक चल रही थी। मल्लाह की बकवास सुनकर सभी क्षुब्ध हो उठे, किन्तु करुणा-मूर्ति मालवीयजी जरा भी विक्षुब्ध न हुए। इतना ही नहीं, उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रों से मल्लाह की ओर देखा और वे उसके चरण-स्पर्श करते हुए बोले, "भाई! लगता है मुझसे तुम्हारा कोई महान् अपराध हुआ है। मुझे क्षमा करो और कृपा करके बताओ कि मैं किस अपराध के लिए दोषी हूँ?"

मल्लाह को स्वप्न में भी आशा न थी कि मालवीयजी उससे इतनी विनम्रता का व्यवहार करेंगे। वह एकदम पानी-पानी हो गया। बहुत आग्रह करने के बाद बड़ी मुश्किल से वह सारी घटना सुना सका, किन्तु मालवीयजी की सौजन्यता से इतना प्रभावित हुआ कि बिना कुछ सुने ही सबको दुआएँ देता हुआ वहाँ से चलता बना।

(४) **भगवान् कौन ?**

बात उस समय की है, जब चक्रवर्ती राज गोपालाचारी निच्चेगोंड के गाँधी-आश्रम में काम करते थे। एक बार अनावृष्टि के कारण अकाल की स्थिति आ गयी। तब आश्रम में हर गुरुवार को सस्ते मूल्य पर अनाज बेचा जाने लगा।

एक दिन राजाजी के पास दो ग्रामवासियों के बारे में यह शिकायत आयी कि उन्होंने प्रतिज्ञा तोड़कर ताड़ी पी है, किन्तु राजाजी द्वारा उनसे बार-बार पूछे जाने पर भी वे अस्वीकार करते रहे कि उन्होंने ताड़ी पी थी। उन्हें सन्देह हुआ कि वे झूठ बोल रहे हैं, किन्तु उनसे सत्य बात कैसे बरगलायी जाय? उनके एक साथी ने भगवान् की शपथ लिवाने की सलाह दी, किन्तु राजाजी को इसपर विश्वास न हुआ। अकस्मात् उनकी दृष्टि एक की चप्पल पर गयी और उन्होंने कुछ सोचकर एक से प्रश्न किया, "तुम मोची हो न?"

"हाँ, हम दोनों मोची ही हैं," उसने उत्तर दिया।

"तब तो तुम्हारा जीवन चमड़े से ही चलता होगा। तुम्हारी रोजी-रोटी देनेवाला यह चमड़ा ही है, इसलिए इस चप्पल को स्पर्श कर कहो कि तुमने ताड़ी पी है या नहीं।" और उन दोनों को कबूल करना पड़ा कि उन्होंने रात को ताड़ी पी थी।

राजाजी सोचने लगे—" 'मैं तुझे पैर की जूती समझता हूँ,' ऐसा कहनेवाले लोग जूते को तुच्छ, निकम्मी वस्तु मानते हैं, लेकिन वही जूता न मालूम कितने लोगों को जीवन देता है और उसी से हजारों-लाखों मनुष्य आजीविका कमाते हैं। फिर भगवान् आखिर है कौन?—जो हमारा भरण-पोषण करे, हमारे जीवन को धारण करे, वही तो भगवान् है!"

(५) परकीय भाव

पुत्र का विवाह परम्परा के अनुसार दस-ग्यारह वर्ष की आयु में कर दिया गया। कन्या सात वर्ष की थी तथा माता की देखरेख में ही उसका चुनाव किया गया था, किन्तु कुछ दिनों पश्चात् माता को अनुभव हुआ कि कन्या का चुनाव ठीक नहीं किया गया है और उसने दूसरी उत्तम गुणों वाली कन्या खोजकर विवाह सम्बन्धी बातचीत शुरू कर दी। किन्तु तब तक पुत्र कुछ समझदार हो चला था। उसने स्पष्ट रूप से कहा, "माँ! दूसरा विवाह नहीं हो सकेगा।" माँ नाराज हुई; बोली, "यह मेरे निर्णय का विषय है, तुम्हारा नहीं। तुम अभी नासमझ हो। मैंने कन्या-पक्ष को आश्वासन भी दे दिया है। क्या तुम्हें इसीलिए पाल-पोसकर बड़ा किया कि तुम्हारे कारण मुझे लज्जित होना पड़े?"

पुत्र ने उत्तर दिया, "आपका मान मुझे प्राणों से भी प्यारा है। उस पर अपनी आहुति दे सकता हूँ। पर क्या दूसरा विवाह करने से पत्नी का जीवन नष्ट न हो जायेगा?"

माता फिर भी न मानी। तब पुत्र बोला, "अच्छा माँ, एक बात बताओ। यदि कन्या के स्थान पर मैं ही उन्हें अयोग्य मालूम पड़ता, तो क्या तुम उस कन्या को दूसरा विवाह करने की अनुमति देतीं?"

और इस तर्कसंगत प्रश्न का माँ के पास कोई उत्तर न था। पुत्र आगे बोला, "माँ! हम अपने ही जीवन का ख्याल करते हैं, स्वयं की खुशहाली ही

सोचते हैं। यह नहीं देखते कि हमारी खुशहाली से किसी दूसरे को हानि तो नहीं हो रही है। यदि ऐसा होता हो तो फिर वह जीवन जीकन न रहा। हमें हमेशा दूसरे का विचार कर ही कार्य करना चाहिए। इसी में वास्तविक सुख है, वास्तविक आनन्द है।"

माता ने यह सुना, तो बेहद लज्जित हुई और बेटे के दूसरे ब्याह की बात बन्द कर दी गयी। यह बालक थे---कांग्रेस के प्राणदाता, भारतमाता के एक सच्चे सेवक दादाभाई नौरोजी !

(६) जीवन का सूत्र

खान् अब्दुल गफ्फार खाँ (सीमान्त गाँधी) के मुहल्ले में एक मौलवी साहब रहते थे। सारा मुहल्ला उन्हें पीर की तरह पूजता था। एक दिन मौलवी साहब ने अपनी बकरी खाँ साहब को देते हुए कहा, "इसे खूँटे से बाँध दो।" बकरी पूरी शैतान की खाला थी। भला कहीं सीधी तरह से माननेवाली थी ! उछलकर भाग गयी और इधर खाँ साहब के हाथ से रस्सी छूट गयी, किन्तु खाँ साहब भी कम न थे, उन्होंने उचककर उसके पैरों को पकड़ लिया।

यह दृश्य मौलवी साहब देख रहे थे; बोले, "बेटा ! यही है जीवन का वास्तविक सूत्र। जड़ पकड़ लेने पर पूरा पेड़ अपना हो जाता है, अतः हमें किसी भी बात की जड़ को पकड़ना चाहिए, तभी हम उसे आत्मसात् कर सकते हैं।"

मानस-पीयूष—४

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(गतांक से आगे)

(पं. रामकिंकरजी उपाध्याय भारत के सुप्रसिद्ध रामायणी हैं। आश्रम के प्रांगण में रामचरितमानस पर उनके कई प्रवचन हो चुके हैं। उन्होंने अपना प्रथम प्रवचन ४ अक्तूबर, १९६६ को दिया था। उसी प्रवचन की चौथी और अन्तिम किस्त हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।—सं.)

पर हनुमानजी की बात इसके ठीक विपरीत है। वे अपने को निमित्त मात्र मानते हैं और इसीलिए अहं-कार के प्रति इतने सजग हैं। जिस समय हनुमानजी अशोकवाटिका में बैठे हुए थे, रावण आकर जानकीजी को अपशब्द कहने लगा। उस समय हनुमानजी की मन:स्थिति की कल्पना कीजिए। कितना क्रोध नहीं आया होगा उनको। उन्हें लगने लगा क्या मैं कूदकर इस दुष्ट को दण्ड दूँ? जिस समय रावण तलवार लेकर सीताजी को मारने दौड़ा तब तो उनके क्रोध की सीमा न रही। पुत्र के सामने ही माँ का यह अपमान! वे रावण के ऊपर कूदने ही वाले थे कि उन्होंने देखा—अचानक मन्दोदरी ने रावण का हाथ पकड़ लिया। यह देखते ही हनुमानजी चुप मारकर बैठ गये। प्रभु को मन ही मन प्रणाम किया और बोले—प्रभो! आप बड़े कृपामय हैं। अच्छा हुआ मैं कूद नहीं पड़ा। नहीं तो मुझे भ्रम हो जाता कि अगर मैं न होता तो आज

जानकीजी को कौन बचाता ? पर आपने बता दिया कि तुम्हारी कोई महत्ता नहीं है, बचानेवाला तो रावण के घर में ही पैदा हुआ है । आपकी कितनी महान् कृपा है कि आपने मुझे सत्य का दर्शन कराया । हनुमानजी शान्त हो गये । रावण चला गया और जाते जाते राक्षसियों को आज्ञा दे गया कि सीता को डराओ । राक्षसियाँ डराने लगीं । हनुमानजी को फिर चिन्ता हुई कि प्रभो, यह क्या कौतुक है---एक दुष्ट तो गया पर अनेक दुष्टाओं को छोड़ गया । इनसे घिरी हुई माँ से कैसे मिल पाऊँगा ? इतने में राक्षसी त्रिजटा कहने लगी—मैंने एक सपना देखा है कि यहाँ एक बन्दर आया है । जब हनुमानजी ने सपने की बात सुनी तो बड़े चौंके और उनकी आँखों में आँसू आ गये । मन ही मन बोले---प्रभो, मैं बड़ा अपराधी हूँ । जब मैं लंका में आया तब मेरे मन में एक प्रश्न उठा था—

लंका निसिचर निकर निवासा ।
इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा ।।

लंका तो राक्षसों की नगरी है । यहाँ कहाँ से सन्त आएँगे ? पर आपने मुझे बतला दिया कि हनुमान, तुमसे बड़े बड़े सन्त लंका में हैं । सचमुच यहाँ तो इतने बड़े योगी हैं जो मेरे आने की बात सपने में देख लेते हैं । इससे भी अधिक हनुमानजी तब चौंके जब त्रिजटा ने कहा —

"सपने बानर लंका जारी ।"

——बन्दर आया हुआ है और वह लंका को जला रहा है।

हनुमानजी ने कहा——प्रभो, मैं समझ गया कि आपका प्रेम मेरी अपेक्षा लंका की इस त्रिजटा पर अधिक है। लंका में जो कार्य लंका जलाने का है वह आपने मुझसे सीधे नहीं कहा, त्रिजटा के द्वारा कहलाया। मुझे तो पता ही नहीं था कि लंका जलाने का कार्य भी मुझे करना है! त्रिजटा राक्षसियों को हटा देती है तथा खुद चली जाती है। तब हनुमानजी माँ सीता के पास आते हैं।

हनुमानजी नागपाश में बँधकर रावण की सभा में जाते हैं, इसका अभिप्राय क्या? हनुमानजी को लगा कि जब प्रभु हर क्षण मेरी रक्षा करनेवाले हैं तब मुझे चिन्ता करने की आवश्यकता ही क्या? जरा बँधकर भी देख लें, इसका भी आनन्द ले लें। जब बन्धन और मुक्ति दोनों रूपों में वे ही हैं तो भय कैसा?

सभा में रावण ने कहा—— मार डालो इस बन्दर को। इतने में विभीषण आ गये और उन्होंने रावण से प्रार्थना की कि उसे मारा न जाय। तब रावण ने कहा ——ठीक है, इसे मृत्युदण्ड न दो। हनुमानजी सोचने लगे कि देखो रावण सोच रहा है कि मृत्यु उसके वश में है, पर भगवान् ने तो मेरी रक्षा के लिये विभीषण को भेज रखा है। हनुमानजी को आनन्द तो तब आया जब रावण ने कहा, इसे मृत्युदण्ड तो नहीं दिया जायगा

पर दण्ड अवश्य मिलेगा और वह यह कि इसकी पूंछ में कपड़ा लपेटकर, उसे घी-तेल से सराबोर कर आग लगा दी जायगी। हनुमानजी ने यह सुनकर प्रभु को मन ही मन प्रणाम किया और बोले—प्रभो, मैं तो समझता था कि आप सन्तों के द्वारा ही अपना काम कराया करते हैं। मुझे यह न पता था कि रावण के मुख से भी वही कहलाते हैं जो आप कहना चाहते हैं। अब लंका जलाने के लिये घी, तेल, कपड़ा मैं कहाँ से लाता ? रावण ही स्वयं सारा प्रबन्ध कर दे यह आपकी कैसी विचित्र योजना है। साथ ही साथ हनुमानजी को रावण पर दया तब आयी जब रावण ने कहा—देखो, इसकी पूंछ ही जलाना और दूसरा अंग नहीं, क्योंकि बन्दर की ममता पूंछ पर अधिक होती है। मनुष्य को जो चोट लगती है, दुःख होता है, वह ममता की चीज पर आघात लगने से होता है। यह बन्दर अपने को बड़ा ज्ञानी समझता है और मैंने ज्ञानी का लक्षण सुना है—

रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।।

—ज्ञानी तो ममता का त्याग करता है, अतः जब यह मेरी सभा में आ गया है तब मैं इसे पूरी तरह ज्ञानी बनाकर छोड़ूंगा। जब इसकी पूँछ जल जायगी तब यह ममतारहित हो जायगा और परम ज्ञानी बन जायगा। हनुमानजी ने क्या किया ?

"बाढ़ी पूंछ कीन्ह कपि खेला।"

उन्होंने पूँछ को बढ़ाया और फिर घटाया। मानो उन्होंने रावण को शिक्षा दी--रावण, तुम तो दूसरों की ममता को जलाना चाहते हो, पर मैं तो पूँछ को घटाना और बढ़ाना दोनों ही जानता हूँ। मैं ममता को फैलाना भी जानता हूँ और समेटना भी। तुम तो केवल ममता को फैलाना ही जानते हो, समेटना नहीं, इसलिए जलेगी तो तुम्हारी ममता, न कि मेरी। चार सौ कोस में फैली तुम्हारी लंका का ही विनाश होगा। तुम दूसरे की ममता मिटाने के स्थान पर अपनी ममता पर ध्यान केन्द्रित करते तो अधिक अच्छा होता। पर रावण का जीवन-दर्शन ही यह है--दूसरों को दर्पण दिखलाना, स्वयं कभी नहीं देखना। दशमुख की वृत्ति ही यह है कि वह सब कुछ जानने के बाद भी उसे जीवन में उतार नहीं पाता। केवल दूसरों को ही उपदेश देता रहता है, समझाता रहता है, पर स्वयं अपनी इन्द्रियों के द्वारा निरन्तर भोग में रत है। उसी प्रकार, जो व्यक्ति अहंकार-ग्रस्त होकर कार्य कर रहा है, वह कुम्भकरण-वृत्ति का परिणाम है। इसीलिए गोस्वामीजी ने कहा कि भले रावण और कुम्भकरण बाह्य रूप से त्रेतायुग में मर जाते हैं पर प्रत्येक युग में, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तः-करण में ये रावण और कुम्भकरण मोह और अहंकार के रूप में विद्यमान रहते हैं। और सचमुच क्या हमारी प्रवृत्ति, हमारे कार्य, हमारे संकेत वही नहीं हैं

जो रावण के जीवन में थे ? क्या हम दूसरों को उपदेश देते नहीं फिरते ? क्या हम दूसरों को ही सत्य दिखलाते नहीं रहते ? क्या हम दूसरों से ही अच्छे अच्छे गुणों की आशा नहीं रखते ?

इसीलिए रावण की मृत्यु पर भगवान् शंकर ने भगवान् राम को बधाई न देकर कहा--प्रभो, मेरी रक्षा कीजिए। इसका तात्पर्य यही था कि भगवन्, आपने लीला में तो रावण को मार डाला, पर जीवन में मरे तब तो बात है। यही भगवान् शंकर की दृष्टि है--सरोवर में गहराई की दृष्टि। इसी अन्तरंग में बैठकर शंकरजी भगवान् राम से प्रार्थना करते हैं--

मामभिरक्षय रघुकुल नायक।
धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥
मोह महा घन पटल प्रभंजन।
संसय बिपिन अनल सुर रंजन ॥
काम क्रोध मद गज पंचानन।
बसहु निरन्तर जन मन कानन ॥
बिषय मनोरथ पुंज कंज बन।
प्रबल तुषार उदार पार मन ॥

यह तो हुई शंकरजी की दृष्टि जिसके अनुसार हम अपने जीवन के रावण तथा कुम्भकरण आदि के विनाश के लिए भगवान् राम से प्रार्थना करते हैं। रामचरितमानस को देखने की दूसरी दृष्टि काकभुशुण्डिजी की है।

शंकरजी सरोवर के जल में डूबते हैं और काक-भुशुण्डिजी जल पीते हैं। जब कथा कहने लगे तब शंकरजी क्या करते हैं---

"मगन ध्यान सर दंड जुग।"

दो बातें हैं--या तो सरोवर में स्वयं जाइये, या सरोवर को स्वयं में लाइये। डूबना यानी सरोवर में स्वयं जाना, और पीना माने सरोवर को स्वयं में ले आना। ज्ञान का तात्पर्य है---भगवान् में डूबना और भक्ति का तात्पर्य है--भगवान् को अपने में डुबाना, अपने में ले आना। अवतार का तात्पर्य क्या है? संस्कृत में सीढ़ी के लिए अवतरणिका शब्द का प्रयोग किया जाता है। अवतार यानी संसार और भगवान् के बीच की दूरी--जीव और भगवान् के बीच की दूरी। भगवान् ऊपर और जीव नीचे। अतः मिलन कैसे हो? यदि सीढ़ी वाला मकान हो तब तो बड़ा लाभ हो। चाहे ऊपर वाला सीढ़ी से नीचे चला आये अथवा नीचे वाला ऊपर आ जाये। अतः ज्ञानियों और योगियों ने कहा कि साधना करके इतने ऊपर चढ़ो कि चढ़कर भगवान् से एकाकार हो जाओ। भगवान् को पा लो। पर भक्तों ने इसे थोड़ा उलट दिया। भक्तों ने कहा--ठीक है, सीढ़ी लगी होने से यदि कुछ व्यक्ति चाहें तो धीरे धीरे ऊपर जा सकते हैं, पर प्रभो, नीचे तो लाखों लोग हैं और ऊपर हैं आप अकेले। एक एक व्यक्ति चढ़कर ऊपर जाये

इससे अच्छा तो यह हो कि आप ही जरा चलकर नीचे उतर आयें तो सबका काम बन जाय। ज्ञानी कहता है, चलो ऊपर, भगवान् के पास। भक्त कहता है—भगवन्, आप उतरिये और आकर खड़े हो जाइये। भक्त ने भगवान् को नीचे उतारा, अपने पास बुलाया। वह सरोवर को अपने में ले आना चाहता है—जल को पी लेना चाहता है। इसीलिए जब कौशल्या अम्बा के सामने भगवान् राघवेन्द्र प्रकट हुए तब वे मुस्करा रहे थे। ओठों पर मन्द मन्द हँसी लिये पूछने लगे—माँ, क्या आज्ञा है ? माँ तो भक्ति-देवी हैं—

पंथ जात सोहहिं मति धीरा ।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा ॥

माँ ने कहा—जब ईश्वर से बालक बन गये हो तो एक काम करो—"कीजै शिशु लीला", शिशु-लीला करो, जरा रोओ। ईश्वर को पहली शिक्षा दी गयी—रोने की। ज्ञानी और योगी कहते हैं—चलो, ईश्वर-जैसे बनो और भक्त कहता है, ईश्वर को अपनी तरह बनाओ। उसको नीचे उतारो। उतारकर पहली शिक्षा दी गयी—प्रभो, संसार में जितने बालक जन्म लेते हैं, वे जन्म लेते ही रोते हैं। आप नहीं रोयेंगे तो आप बराबरी में नहीं आयेंगे। लगता है बालक बनकर भी आप थोड़ा अपना बड़प्पन बनाये रखना चाहते हैं। पहले बराबर के तो बनिये। तो

भगवान् रोने लगते हैं--

"सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना ।"

भगवान् राम रोने लगे । भगवान् को रोते देखकर लोगों ने गोस्वामीजी से पूछा--साक्षात् ईश्वर रो रहा है, अब हम लोग भी रोयें क्या--सहानुभूति में ? गोस्वामीजी ने कहा--ऐसी भूल नहीं करना । तो हम लोग क्या करें ? उन्होंने कहा--"यह चरित जे गावहिं"--आओ, हम लोग गायें । अब तक तो हम लोग बहुत रोये और ईश्वर सदा हँसता रहा । अब अवसर आया है जब हमारी आँखों का आँसू ईश्वर ने स्वयं ले लिया है । इसके बाद भी अगर हम रोयें तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य और क्या होगा ? दूसरी बात उन्होंने खूब बढ़िया कही, जैसे जब किसी पद पर कार्यरत व्यक्ति उस पद से मुक्त हो जाता है तब पद खाली थोड़े ही रहता है ? दूसरा व्यक्ति उस पद को ग्रहण कर लेता है । गोस्वामीजी ने कहा--देखो, ये हरि महोदय अब अपना पद छोड़कर नर बन गये हैं तो हम लोगों को यह करना है--

"यह चरित जे गावहिं हरि पद पावहिं ।"

--चलो, जब हरि नर बन गये तो हम लोग हरि बन जायँ । पद को खाली क्यों रखें ? गोस्वामीजी ने और आगे कहा--"ते न परहिं भव कूपा", अर्थात् जो हमारे भगवान् के जन्म की गाथा पढ़ेगा, उसका फिर जन्म नहीं होगा । जो हरि के नर बनने की कथा समझ लेगा, वह

हरि ही हो जायेगा। जो उनके आँसुओं का रहस्य जान लेगा वह स्वयं आँसुओं से मुक्त हो आनन्द से गायन करने लगेगा। भक्तों ने भगवान् को उतार लिया। केवल उतारा ही नहीं, बाँध भी लिया।

बड़ी मीठी बात आती है। त्रिगुण की रस्सी से जीव बँधा हुआ है। अब उससे छूटे कैसे? ज्ञानी लोग कहते हैं—'असंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा'—असंगता का शस्त्र उठाकर बन्धन को काटकर फेंक दो। भक्तों ने भगवान् से कहा—प्रभो, हम बन्धन से छूटना चाहते हैं। भगवान् ने कहा—हम तलवार से कृपा करके बन्धन काटे देते हैं। भक्तों ने भगवान् से कहा—नहीं भगवन्, भव-बन्धन काटने का काम तो ज्ञानी लोग करते हैं। भक्त लोग तो छूटते हैं, जैसे—

जासु नाम जपि सुनहु भवानी।
भव बंधन काटहिं नर ग्यानी॥

तथा

भव बन्धन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।

भगवान् का नाम लेकर भक्त भव-बन्धन से छूटते हैं तथा ज्ञानी लोग भव-बन्धन काटते हैं।

भगवान् ने कहा—भाई, अन्तर क्या है? चाहे काटें, चाहे छूटें। मुक्ति तो मिल ही गयी।

नहीं, अन्तर है।

क्या अन्तर है?

ज्ञानी तो भव-बन्धन से मुक्त हो गया और जब

रस्सी काट दी गयी तो रस्सी बेकार हो गयी ।

और भक्तों ने क्या किया ?

जब भगवान् भक्तों को मुक्ति देने चले, रस्सी काटने चले तब भक्तों ने भगवान् से कहा—रस्सी काटिये मत, जरा खोल दीजिए ।

भगवान् ने कहा—तुम्हें मुक्त होना है या रस्सी लेनी है ?

भक्त ने कहा—मुक्त भी होना है और रस्सी भी लेनी है ।

रस्सी का क्या करोगे ?—भगवान् ने पूछा ।

भक्त ने कहा—रस्सी मिल गयी तो बहुत बढ़िया लाभ होगा । जिस रस्सी से आज तक आपने हम लोगों को बाँध रखा था अब उस रस्सी से आपको बाँधकर देखेंगे कि उस रस्सी में आप कैसे लगते हैं ! गोस्वामीजी ने कहा—

जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करम की डोरी ।
सोइ अबिछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी ।।

भगवान् स्वयं बँध गये । ज्ञानी ने भगवान् को बड़ा बनाकर स्वयं को बड़ा बना लिया और भक्तों ने भगवान् को नीचे उतारकर उन्हें छोटा बना लिया । श्रीमद्भागवत में एक बड़ी मीठी बात आती है । जब यशोदा मैया ने भगवान् श्रीकृष्ण को रस्सी से बाँधने की कोशिश की तो रस्सी दो अंगुल छोटी हो गयी । यह दो अंगुल का चमत्कार रामायण और श्रीमद्भागवत दोनों में है । रामचरितमानस में आता है—

काकभुशुण्डिजी भाग रहे हैं और श्रीभगवान् उनको पकड़ना चाहते हैं, पर काकभुशुण्डि और उनकी भुजा के बीच दो अंगुल की दूरी रह गयी है। और श्रीमद्-भागवत में आता है कि जब यशोदा मैया ने भगवान् को बाँधना चाहा तो रस्सी दो अंगुल छोटी हो गयी। यह दो अंगुल बड़ा चमत्कारी है तथा इसका अर्थ बड़ा गम्भीर है। पर यहाँ संकेत केवल इतना ही है कि यशोदा मैया बार बार रस्सी मँगाकर जोड़ती जाती हैं, पर वह निकलती है दो अंगुल छोटी। खैर, भगवान् किसी तरह बँधे। जब यशोदा मैया बाँधकर चली गयीं तो भक्त ने भगवान् से कहा—प्रभो, मुझे आपसे एक शिकायत है, एक उलाहना है। क्या ? आप बालक बने, पर आपने बड़प्पन नहीं छोड़ा। जब आप ईश्वर से बालक बने, तो बँध ही जाते। क्या कोई बालक अपनी माँ को ऐसा चमत्कार दिखाता फिरता है ? आपसे अपनी ईश्वरता का चमत्कार दिखाये बिना नहीं रहा गया। बालक तो बने, पर सोचा कि माँ कोई साधारण बालक न समझ ले, इसलिए लगे ईश्वरता दिखलाने। आप बढ़िया नाटक नहीं कर सकते। बढ़िया नाटक तो तब होता जब—

जस काछिय तस चाहिय नाचा।

——जैसा स्वाँग करे वैसा ही नाचे। भगवान् ने कहा—— अरे पगले, यह मेरा चमत्कार थोड़े ही था। यह बताओ, मैया जब रस्सी से मुझे बाँध रही थी तब रस्सी छोटी हो रही थी या मैं दो अंगुल बढ़ता जा

रहा था ? अब भक्त के सामने समस्या आ गयी। उसने कहा -- भगवन्, आप तो जैसे के तैसे थे।

भगवान् ने कहा-- अगर मेरा चमत्कार होता, तब तो मैं बढ़ता जाता। जब मैं जैसा का तैसा रहा, तो फिर मेरा चमत्कार कहाँ रहा ? यह चमत्कार मेरा नहीं, यह तो यशोदा मैया का है कि उनके हाथ पकड़कर रस्सी दो अंगुल छोटी हो गयी।

भक्त ने कहा-- प्रभो, यह असम्भव है।

भगवान् बोले--तुम समझ नहीं रहे हो। जिसकी गोद में पहुँचकर इतना बड़ा ब्रह्म छोटा हो गया तो उसके हाथ में पड़कर अगर रस्सी दो अंगुल छोटी हो जाय तो इसमें आश्चर्य क्या ?

व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ।।

प्रेम और भक्ति ने ही व्यापक ब्रह्म को छोटा बना दिया। माँ का वात्सल्य उन्हें बाँधना नहीं चाहता था, अपितु ऊपर से दिखाने के लिए वे बाँधना चाहती थीं। यह दो अंगुल का छोटापन माँ के इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण है, इसमें मेरा कोई चमत्कार नहीं, यह भगवान् का तात्पर्य है।

सो भक्तों ने भगवान् को नीचे उतारकर अपनी भक्ति से उन्हें छोटा बना लिया। यही सरोवर के रस को अपने जीवन में लाने की काकभुशुण्डिजी की, भक्त की दृष्टि है। (क्रमश:)

●

शिवाजी पर स्वामी विवेकानन्द के विचार—२

डा. एम. सी. नान्जुन्दाराव

(गतांक से आगे)

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के प्रिय भक्तों में से थे। लेखक से वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने इतिहास के ऐसे कई महत्त्व-पूर्ण पृष्ठों को उजागर किया है जो विदेशी इतिहासकारों के द्वारा अपने स्वार्थ की सिद्धि हेतु विकृत कर दिय गये थे। प्रस्तुत लेखमाला में स्वामीजी के द्वारा छत्रपति शिवाजी के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्य एक नये रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हुए हैं। इस संस्मरणावली में स्वामीजी की इतिहास में गहरी पैठ दर्शनीय हं। यह लेखमाला मूल अंग्रेजी में 'वेदान्त केसरी' नामक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इसके ऐतिहासिक महत्त्व को देखते हुए हम हिन्दी-भाषी पाठकों के लाभार्थ इसे धारावाहिक रूप से यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'वेदान्त केसरी' के दिसम्बर १९१४ अंक से साभार गृहीत हुआ है। -- सं.)

स्वामीजी कहते चले, "मैंने पहले ही कहा है कि कुछ महान् सन्त शिवाजी के समकालीन थे तथा यह स्मरण रखना चाहिये कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियाँ समग्र यूरोप और एशिया में एक महान् धार्मिक उत्थान के काल के रूप में विश्व के इतिहास में एक युगारम्भ की सूचना देती हैं। भारत में यह उत्थान केवल मराठा प्रदेश तक ही सीमित न होकर सार्व-भौमिक था। इसका प्रतिफलन सर्वतोव्यापी सार्वजनीन जागृति के रूप में हुआ था। भारतीय धर्म सदैव

से राष्ट्रीय जागरण का पुरोगामी रहा है। उत्तर भारत और पंजाब में गुरुनानक ने लोगों को जाग उठने के लिए झकझोरा तथा हिन्दू एवं इस्लाम धर्म के मूलभूत आध्यात्मिक सत्यों को समन्वित करने के लिए सर्वोपरि प्रयत्न किया। बंगाल और अन्य पूर्वी भागों में चैतन्य महाप्रभु ने शक्ति और काली की पूजा में प्राणियों की क्रूर बलि देने के कार्य से लोगों को विरत किया और भगवान् की मधुर प्रेमाभक्ति की ओर उन्हें आकृष्ट किया। कबीर और तुलसीदास जैसे अन्य लोगों ने अपने अपने ढंग से आध्यात्मिक प्रबोधन में योगदान दिया। यद्यपि इन लोगों का कार्य महान् एवं स्थायी था, तथापि इसकी तुलना महाराष्ट्र के सन्तों एवं महापुरुषों के कार्य से नहीं की जा सकती। स्वाधीनता के राजनीतिक संघर्ष के समान ही धार्मिक उत्थान भी किसी एक व्यक्ति या एक शताब्दी का कार्य नहीं था, अपितु यह राजनीतिक संघर्ष के साथ साथ चला था। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ था कि मुस्लिम-आक्रमण ने समस्त धार्मिक क्रियाओं को पंगु कर दिया है, परन्तु धीरे-धीरे राष्ट्र की आत्मा ने पुनः स्वास्थ्य लाभ किया और अपना स्वाभाविक लचीलापन प्राप्त कर लिया; तथा मराठा-शक्ति के अभ्युदय के समय तक ऐसे सन्तों की जाज्वल्यमान पंक्ति उभरी, जिनके नाम देश में घर-घर गूँजने लगे।... ये महान् उपदेशक लगभग दो शताब्दियों तक आते रहे तथा इसके उपरान्त वे

न्यूनाधिक रूप से परिशान्त हो गये। यह तथ्य स्वयं मराठों की राजनीतिक शक्ति के ह्रास के साथ विलक्षण रूप से जुड़ा हुआ है।"

इस सन्दर्भ में न्यायमूर्ति रानडे के कथन को उद्धृत करना समीचीन होगा—"महाराष्ट्र में धार्मिक और राजनीतिक शक्तियों के उत्थान के मध्य बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। यह तथ्य उन लोगों के लिए बड़ा महत्त्व-पूर्ण है, जो इस सूत्र के बिना ही मराठा-शक्ति के विकास की सर्पिल प्रक्रिया को समझना चाहते हैं। ऐसे लोगों को यह विकास-प्रक्रिया एक पहेली मालूम होती है अथवा जीवटों की एक ऐसी कथा-श्रृंखला प्रतीत होती है, जिसमें कोई मूलभूत नैतिक प्रयोजन नहीं है। यूरोप के तथा इस देश के लेखकों ने इस आन्दोलन के दोहरे स्वरूप पर बहुत थोड़ा ही न्याय किया है। इन लेखकों ने राष्ट्रीय मेधा के आध्यात्मिक स्वातंत्र्य के इतिहास से अपने को अछूता रखा और यही मराठों के राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष के अध्ययन में अनेक पूर्वा-ग्रहों का कारण रहा है।

"अनेक मराठा सन्त निम्न जातियों में पैदा हुए थे। वे सभी जातियों से आये थे तथा उनमें सभी पेशेवाले थे—मराठा, कुम्भी, दर्जी, माली, कुम्हार, सुनार, पश्चात्तापदग्ध वेश्या, दासी तथा अछूत महार (या पंचम)। इनमें कुछ स्त्रियाँ भी थीं तथा हिन्दू धर्म को अंगीकार करनेवाले कुछ मुसलमान भी थे। इस

प्रकार उच्चतर आध्यात्मिकता का प्रभाव केवल इस या उस वर्ग तक ही सीमित नहीं था, अपितु वह समाज के सभी स्तरों-- पुरुषों और स्त्रियों, ऊँच और नीच, शिक्षित और अशिक्षित, हिन्दू और मुसलमान-- सब में समान रूप से व्याप्त था तथा उसकी जड़ें बहुत गहरी थीं। जिन देशों में व्यापक जन-जागरण के फलस्वरूप उत्थान हुआ है, उनके अलावा बहुत ही कम देशों के धार्मिक इतिहास में बड़ी मुश्किल से जागरण के ऐसे लक्षण मिल सकेंगे।"*

स्वामीजी ने कहा, "इन सन्तों ने लोगों को बार-बार दिये गये अपने उपदेशों एवं प्रबोधनों के द्वारा मराठों की राष्ट्रीयता की जागृति और उसके विकास में अमूल्य योग दिया। उन्होंने मराठों की मेधा को धार्मिक जड़ता की दशा से उबारा और उन्हें हिन्दू धर्म के महान् सिद्धान्तों का पालन करने का निर्देश दिया। उन्होंने विशेष रूप से नैतिक नियमों की शाश्वत सत्यता और मनुष्य के उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के सिद्धान्तों को पुरजोर शक्ति के साथ लोगों के सामने रखा और उनके पालन पर बल दिया। शिवाजी पर इन्हीं उपदेशों का, और विशेषकर, इनमें से एक महापुरुष समर्थ रामदास का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा था। इससे मराठों की राजनीतिक प्रगति एवं

---

*देखिये, न्यायमूर्ति एम. जी. रानडे का 'राइज़ ऑफ मराठा पावर'।

उनकी सीमाओं में वृद्धि का श्रीगणेश हुआ। समर्थ रामदास शिवाजी के गुरु कैसे बने तथा उन्होंने शिवाजी के जीवन और कार्य पर क्या प्रभाव डाला यह तो हम बाद में देखेंगे," स्वामीजी ने कहा, "पर अभी हम उस विपदा का वर्णन करेंगे, जिसमें शिवाजी कथा सुनने की अपनी तीव्र अभीप्सा के कारण फँस गये थे तथा जिससे वे चामत्कारिक ढंग से छूट भी गये थे। यह घटना सुप्रसिद्ध सन्त तुकाराम के एक धार्मिक प्रवचन के दौरान घटी थी। यद्यपि सन्त तुकाराम जन्म से कुनबी जाति के थे, तथापि वे श्रेष्ठ मराठा सन्तों में से एक थे। आध्यात्मिक उन्नयन के क्षेत्र में उनका प्रभाव आज भी अतिशय महान् है, क्योंकि जो भी उनके प्रसिद्ध अभंगों को पढ़ता हैं, वह उनके उपदेशों के मार्मिक प्रभाव से अभिभूत हो जाता है। वे पण्ढरपुर के विठोबा के उत्कट भक्त थे। उन्होंने गाँव गाँव जाकर लोगों को इस जीवन्त ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा विकसित करने के लिए तथा समस्त अर्थहीन क्रियाकाण्डों का परित्याग करने के लिए प्रेरित किया। कारण यह कि यदि क्रियाकाण्डों को, बिना उनके महत्त्व और मूल्य को जाने, सम्पादित किया जाता है, तो वह लोगों के मन से ईश्वर के प्रति सच्ची श्रद्धा को भी नष्ट कर देता है। और यही उस युग की आध्यात्मिक अवनति के कारणों में से एक रहा है। क्रियाकाण्डों को आरम्भिक विधान के काल में समाज

और परम्परा की स्वीकृति तो मिली थी, पर कालान्तर में ये गतानुगतिक और जड़ हो गये तथा इन पर ब्राह्मणों का एकाधिपत्य हो गया। जातिगत प्रधानता और फलस्वरूप उससे उत्पन्न शोषण की प्रवृत्ति के विरुद्ध ही इन सन्तों ने अत्यन्त पुरुषार्थपूर्वक संघर्ष किया था।" न्यायमूर्ति रानडे कहते हैं -- इन सन्तों ने मानवात्मा की गरिमा पर बल दिया और प्रचारित किया कि मानवात्मा जन्म की आकस्मिकता और सामाजिक वर्गबद्धता से परे है तथा समस्त मानवों में विद्यमान है। इन सन्तों ने अपने जीवन और उदाहरण के द्वारा मनुष्य की आध्यात्मिकता की राष्ट्रीय धारणा को ऊपर उठाया और जातिगत असहिष्णुता की पकड़ को शिथिल करने का प्रयास किया। इन सब उदात्त उपदेशों के फलस्वरूप ही आज जातीय संकीर्णता और बहिष्कार-वृत्ति का धार्मिक क्षेत्र में कोई स्थान नहीं है और वह मनुष्यों के मात्र सामाजिक सम्पर्क तक ही सीमित रह गयी है। यदि कोई दक्षिण भारत के ब्राह्मणों की संकीर्ण और बहिष्कारवादी जातीय पूर्वाग्रहों की तुलना महाराष्ट्र के दक्षिण भू-भाग में प्रचलित परम्पराओं से करे तो उसे ज्ञात होगा कि महाराष्ट्र में सामाजिक क्षेत्र में भी वर्णगत संकीर्णता बहुत कम रह गयी है। जातिगत तटस्थता की यह भावना पण्ढरपुर के विठोबा के ब्रह्मोत्सव-जैसे वार्षिक धार्मिक सम्मेलनों के अवसर पर अतिशय उद्दीप्त हो जाती है, जिसमें

अन्तिम दिन भगवद्भोज का आयोजन किया जाता है। इससे स्त्रियों और पुरुषों के मन में यह विश्वास जागता है कि भले ही वे निम्न जातियों में पैदा हुए हैं पर वे श्रद्धा और प्रेम के माध्यम से मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं। निम्न समझी जानेवाली महार जाति में उत्पन्न सन्त चोखामेला के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जब उन्हें पण्ढरपुर के मन्दिर में प्रवेश करने के दुस्साहस के कारण डाँटा गया, तब उन्होंने कहा कि वे खुद होकर मन्दिर में नहीं गये थे, प्रत्युत उनके भगवान् उन्हें बलपूर्वक अन्दर ले गये थे। इतना कहकर उन्होंने तत्काल अपना एक प्रसिद्ध गीत गाया, जिसका भावार्थ यह था — 'यदि भक्ति और श्रद्धा न हो, तो ऊँची जाति में जन्म लेने से क्या मिलेगा ? क्रियाकाण्डों और ज्ञान से क्या मिलेगा ? भले ही कोई नीची जाति का हो, पर यदि उसके हृदय में श्रद्धा है, यदि वह भगवान् से प्रेम करता है और समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझता है, यदि अपनी और दूसरों की सन्तानों में भेद नहीं करता, यदि वह सत्य बोलता है, तो भगवान् उस पर प्रसन्न होते हैं। भगवान् के प्रति श्रद्धा करनेवाले और मनुष्यों से प्रेम करनेवाले व्यक्ति की जाति मत पूछो। भगवान् अपनी सन्तानों से प्रेम और भक्ति की अपेक्षा रखते हैं, वे उनकी जाति की परवाह नहीं करते, आज जबकि ईश्वरविहीन शिक्षा के दिनों में भक्ति अधिकाधिक विरल होती जा रही है, उपर्युक्त सत्यों पर बल

देने की तथा ईश्वर के प्रति शुद्धा भक्ति की अनिवार्यता प्रतिपादित करने की महत्तर आवश्यकता है।

ऐसे विशुद्ध उपदेशों के प्रति शिवाजी का सदैव आकर्षण रहता था। उन्हें समाचार मिला कि सन्त तुकाराम सातारा से बीस मील दूर एक छोटे कस्बे में आये हुए हैं तथा वहाँ एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के घर पर उनकी कथा का आयोजन किया गया है। यह सुनते ही शिवाजी ने येन-केन-प्रकारेण उसी सन्ध्या कथा सुनने का निश्चय किया। उन्होंने एक सामान्य देहाती का वेश बनाया और पैदल ही उस कस्बे की ओर निकल पड़े। मुसलमानों ने शिवाजी के पराक्रम के बारे में सुना था और वे उनसे बहुत भयभीत रहा करते थे। वे उन्हें अनजाने में किसी तरह पकड़कर मार डालने पर तुले हुए थे। यद्यपि शिवाजी छद्मवेश में थे, फिर भी एक मुसलमान ने उन्हें उस घर में जाते समय पहचान लिया, जहाँ सन्त तुकाराम प्रवचन कर रहे थे। उसने अपने सिपहसालार को खबर दी और सिपहसालार ने तत्काल उस स्थान को घेरकर शिवाजी को पकड़ने के लिए कुछ घुड़सवारों को रवाना किया। वह उजियाली रात थी। रात आधी हो चली थी और सन्त तुकाराम भक्तिभाव में डूबकर भावोच्छ्वसित कण्ठ से प्रवचन करने में तल्लीन थे। समस्त श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर सुन रहे थे। यद्यपि शिवाजी श्रोताओं के बीच में एक देहाती के वेश में बैठे थे, पर तुकाराम की सूक्ष्म दृष्टि

ने यह जान लिया कि वे कौन हैं। शिवाजी निश्चल भाव से बैठे हुए आसपास की सुधि बिसारकर सन्त के अधरों से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द का पान कर रहे थे। उस मार्मिक प्रवचन के बीच सन्त अचानक चुप हो गये। कुछ क्षणों के लिए वे निश्चल और मूक बन गये। उनकी पलकें इस प्रकार निमीलित हो गयीं, मानो वे गहरी समाधि में चले गये हों। तदनन्तर वे सहज होकर पुनः प्रवचन करने लगे। कुछ ही क्षणों बाद देहाती वेश में ठीक शिवाजी के समान एक आकृति उभरी और घर के बाहर चली गयी। श्रोताओं को तो इसका भान नहीं हुआ, किन्तु सन्त तुकाराम ने देखा कि वह आकृति घर से निकल गयी और जो घुड़सवार उस स्थान को घेरे हुए थे, वे उसका पीछा करने लगे। जब तुकाराम ने अपना प्रवचन समाप्त किया, तब दिन निकलने ही वाला था। कहा जाता है कि बाद में उन्होंने एकान्त में शिवाजी से बातचीत की थी और उन्हें आशीर्वाद दिया था। उन्होंने शिवाजी को यह भी बताया था कि वे उस दिन कैसी आपत्ति में फँस गये थे और कैसे सर्वशक्तिमान् और परम करुणामय भगवान् विठोबा ने शिवाजी के सच्चे स्नेह और भक्ति से द्रवित होकर उनकी रक्षा की थी। कहा जाता है कि जो घुड़सवार उस आकृति का पीछा कर रहे थे, वे एक जंगल में भटक गये और अगली सुबह तक उसमें से न निकल पाये। तब तक शिवाजी सातारा में अपने घर

सकुशल पहुँच चुके थे ।

स्वामीजी ने बताया, "प्रवचन के मध्य यह आकस्मिक व्यवधान इसलिए उत्पन्न हुआ कि सन्त तुकाराम उस बड़े घर के सदर दरवाजे की ओर मुँह करके खड़े थे । जैसे ही उन्होंने मुसलमान घुड़सवारों को वह स्थान घेरते हुए देखा, उन्होंने जान लिया कि शिवाजी श्रोताओं में उपस्थित हैं । तुकाराम पहले से ही जानते थे कि शिवाजी का ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम और श्रद्धा है । इसलिए वे एकाएक रुक गये और उन्होंने भगवान् विठोबा से प्रार्थना की कि वे इस विपदा से शिवाजी की रक्षा करें । यह सत्य है कि भगवान् विशुद्ध हृदय से की गयी सच्ची प्रार्थना का उत्तर देते हैं और बलवान् लोगों के विवेक को भ्रमित कर देते हैं । उनके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है ।

"यद्यपि शिवाजी इस विपत्ति से बाल-बाल ही बचे थे, तथापि उनका कथा सुनने का आग्रह तनिक भी कम नहीं हुआ । बल्कि इस घटना से उनकी साहसिकता की भूख और भी बढ़ गयी और वे एक अन्य अवसर पर साधु गोस्वामी द्वारा कही जानेवाली कुचेला की कथा सुनने पहुँच गये । इस कथा को कहते समय साधु गोस्वामी ने हमारे धार्मिक साहित्य के सभी अंगों से अधिकारी विद्वानों के उद्धरण पर उद्धरण देते हुए इतने भावपूर्ण और प्रभावी ढंग से विषय का प्रतिपादन किया कि शिवाजी यह सोचकर व्याकुल हो उठे कि उन्हें अभी तक गुरु की प्राप्ति नहीं हुई है ।"

(क्रमश:)

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मचारी देवेन्द्र

(गतांक से आगे)

शिकागो में अठारह दिन बिताकर स्वामीजी सोमवार, १२ फरवरी १८९४ को डिट्रायट के लिए रवाना हुए। विश्व के औद्योगिक शहरों में अग्रगण्य यह शहर उस समय भी उद्योग, कला और संस्कृति के क्षेत्र में एक प्रमुख स्थान रखता था। यद्यपि उस समय मोटर गाड़ी का अविष्कार नहीं हुआ था, जिसके लिए आज डिट्रायट विश्वप्रख्यात है, तथापि अनेक औद्योगिक संस्थान उस समय भी उत्तरोत्तर प्रगति पर थे। जनजीवन भी वहाँ का अत्यन्त गतिमान था। डिट्रायट का प्रबुद्ध जनमानस नित नवीन वस्तुओं के आविष्कार करने तथा अपनाने में अग्रगण्य था। क्या भौतिक, क्या सामाजिक और क्या आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में वहाँ के लोग आगे बढ़े-चढ़े थे। वहाँ एक ओर जैसे उदार, उन्नतमना विद्वत्-मंडली थी जो सभी नूतन विचारों को आत्मसात् करने में पीछे नहीं रहती थी, वैसे ही दूसरी ओर धर्मान्ध, कट्टरपन्थी, पुरातनवादी लोगों की भी बहुलता थी जिनके लिए उनका अपना धर्म और संस्कृति सर्वोपरि थी। बाकी अन्य धर्म उनके लिए निकृष्ट और त्याज्य थे। इसीलिए स्वामीजी को जहाँ एक ओर इस शहर में उदारमना, उन्मुक्तहृदय

व्यक्तियों का प्रेम, आदर और सत्कार प्राप्त हुआ, वहाँ दूसरी ओर उन्हें कट्टरपन्थियों के दुराग्रह, दुष्प्रचार, निन्दा-अपमान और षड़यंत्रों का भी सामना करना पड़ा। स्वामीजी को बदनाम करने में उन्होंने कोई कसर नहीं रख छोड़ी। वैसे तो धर्ममहासभा के समय से ही कट्टरपन्थी स्वामीजी के विरोधी हो गये थे तथा उनके विरुद्ध दुष्प्रचार प्रारम्भ कर दिया था, फिर भी धर्मसभा में प्रतिपादित विश्व-बन्धुत्व और सर्वधर्म-सहिष्णुता का झीना आवरण उन लोगों को कुछ कुछ रोकता रहा था। पर महासभा के समाप्त हो जाने के बाद तो यह सारी सहिष्णुता और बन्धुत्व की भावना एकबारगी बिदा हो गयी और जहाँ भी स्वामीजी गये, उनके विरुद्ध जोरों से प्रचार-कार्य प्रारम्भ हो गया। मेम्फिस के प्रवासकाल में इसकी झलक देखने को मिलती है। शिकागो के एक प्रिसबिटेरियन पादरी ने धर्मसभा के बाद लिखा था —— "धर्ममहासभा में वे (स्वामीजी) हमारे अतिथि थे, पर अब जब सभा समाप्त हो चुकी है, हमें उनके तथा उनके झूठे सिद्धान्तों के विरुद्ध जबरदस्त आक्रमण करना होगा।" डिट्रायट के कट्टरपन्थी इस आक्रमण में पीछे नहीं रहे। वहाँ यह कार्य बड़े योजनाबद्ध रूप से प्रारम्भ हुआ। स्वामीजी द्वारा भारत के ईसाई मिशनरियों के बारे में की गयी आलोचनाओं ने कट्टरपन्थियों को तिलमिला दिया था। समस्त गर्हित साधनों का सहारा ले

वे स्वामीजी को अपमानित और लांछित करने के लिए टूट पड़े। उनके डिट्रायट-आगमन के पहले ही दिन उनके भव्य स्वागत का आयोजन हुआ था। इसके पहले कि वे धन्यवाद का एक शब्द बोल पाते, एक एक महिला उठ खड़ी हुई और अपशब्दों में उसने उनकी कटु आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया। उसने यह तक विचार न किया कि वह स्वयं उस घर में एक अतिथि के रूप में आमन्त्रित है। स्वामीजी ने श्रीमती ओल बुल को बाद में लिखा था—"व्यक्ति का चरित्र कितना भी अच्छा क्यों न हो, ऐसे लोग हमेशा मिलेंगे जो उसके विरुद्ध निम्नतम झूठों का अविष्कार करने से नहीं चूकेंगे।" यह तो प्रारम्भ था। पर इस घटना ने यह बता दिया कि उन्हें आगे किस भीषण तूफान और झंझावात का सामना करना होगा। बाद में योजना बद्ध रूप मे स्वामीजी के विरूद्ध सभाएँ आयोजित की गयीं और अखबारों में लेख लिखे गये। श्रीमती बर्क 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं—"स्वामीजी के विरुद्ध लिखे इन कुत्सात्मक लेखों को पढ़कर यह विश्वास करना कठिन होता है कि वे मात्र कुछ धर्मान्धों और मनकियों के कार्य नहीं थे वरन् तत्कालीन विचारधारा और पूर्वाग्रह के ठोस मूर्तिमन्त प्रतीक थे। नैतिक धर्म-भावना की आड़ लेकर तब धर्मान्धता एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में कार्यरत थी। यह सच है कि वह शक्ति म्रियमाण हो रही थी, पर चूँकि वह मर रही

थी इसलिये वह और भी अधिक सांघातिक हो गयी थी। स्वामीजी ने विरोधियों के प्रहार निर्भीकता से सहे। वे एक योद्धा संन्यासी थे। आलोचनाओं और अपवचनों से उनकी शक्ति में वृद्धि ही होती थी। बिना किसी हिचक के वे इन खाइयों को पार करते रहे, लड़ते रहे--अपने लिए नहीं, वरन् अपनी मातृभूमि के लिए और साथ ही अमेरिका के लिए भी।"

१२ फरवरी को ही स्वामीजी डिट्रायट पहुँच गये। वहाँ वे श्रीमती जोन जे. बागली के अतिथि बने। श्रीमती बागली डिट्रायट की सर्वाधिक प्रभावशाली महिलाओं में से थीं। वे मिशिगन के भूतपूर्व गवर्नर की विधवा थीं। अत्यन्त सुसंस्कृत तथा धार्मिक गुणों से युक्त थीं। साहसिकता उनमें कूट-कूटकर भरी थी। एक हीदन (विधर्मी) को, और विशेषकर ऐसे व्यक्ति को जो मिशनरियों का कोपभाजन हो, अपने घर में अतिथि के रूप में ठहराना अत्यन्त साहसिक कार्य था। निस्सन्देह इस कार्य के लिए श्रीमती बागली को अनेक आलोचनाओं और अपमान का सामना करना पड़ा था। उनकी दौहित्री श्रीमती फ्रान्सेस बागली वैलेस ने, जो उस समय ९ वर्ष की बच्ची थी, अपने संस्मरण सुनाते हुए कहा था कि उस समय उसके साथ पढ़नेवाले स्कूल के बच्चे उसे चिढ़ाते तथा ताना देते कि उसके यहाँ 'हीदन' को ठहराया गया है। यह इस बात का प्रतीक

था कि डिट्रायट का समाज इस कार्य को कितनी अवज्ञा की दृष्टि से देखता था। किन्तु श्रीमती बागली इससे तनिक भी विचलित नहीं हुईं। इसके विपरीत उन्होंने डिट्रायट के समस्त प्रबुद्ध वर्गों को जिनमें वहाँ के बिशप, पादरी, प्राध्यापक, विचारक, लेखक, डॉक्टर, वकील आदि शहर के चुने हुए लोग थे, आमंत्रित किया, और वे सब आये क्योंकि वे स्वामीजी से मिलने को बड़े उत्सुक थे। श्रीमती बागली ने उन्हें यह सुअवसर प्रदान किया था। अन्यथा ऐसे बहुत से लोग थे जो कट्टरपन्थी समाज के भय से स्वामीजी से प्रत्यक्ष भेंट करने का साहस न कर पाते। यह आयोजन ड्रिट्रायट के इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना थी। समाज के सभी वर्गों के गणमान्य व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित हुए हों ऐसे अवसर विरले थे। डिट्रायट के दो प्रमुख पत्र 'डिट्रायट जर्नल' तथा 'डिट्रायट ट्रिब्यून' ने विस्तृत रूप से इस स्वागत-सभा का विवरण छापा था।

१३ फरवरी को 'डिट्रायट फ्री प्रेस' के संवाददाता ने स्वामीजी से वार्ता की। इसमें भी उनके वे ही विचार परिलक्षित होते हैं जो उन्होंने मेम्फिस में रखे थे —— भौतिक समृद्धि के साथ आध्यात्मिकता का संयोग, मानव का ऐसा विकास जिसमें सिंह की ताकत के साथ साथ मेमने की सी सौम्यता हो। संवाददाता ने १४ फरवरी के अंक में लिखा——स्वामीजी का शरीर मँझले कद का है। वे अपनी जाति के सामान्य लोगों की

भाँति श्यामवर्ण के हैं। वे व्यवहार में मृदु और क्रियाओं में सजग हैं तथा उनके प्रत्येक शब्द, कार्य और भंगिमा से अत्यन्त शिष्टता झलकती है। किन्तु उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक प्रभावशाली अंग उनकी आँखें हैं जिनमें महान् तेज है। वार्तालाप का क्रम धर्म की ओर पलटा। स्वामीजी ने अन्य उल्लेखनीय बातों के बीच कहा --

"मैं धर्म और सम्प्रदाय में अन्तर मानता हूँ। धर्म का तात्पर्य है--- प्रचलित समस्त सम्प्रदायों को यह मानकर स्वीकार करना कि वे सब एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। सम्प्रदाय विरोध और संघर्ष को जन्म देता है। सम्प्रदाय भिन्न भिन्न इसलिये हैं कि भिन्न भिन्न प्रकार के लोग हैं। सम्प्रदाय अपने को समाजविशेष के अनुकूल बनाकर, लोग जैसा चाहते हैं वैसा प्रदान करता है। चूँकि दुनिया बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक दृष्टि से अनन्त प्रकार के विभिन्न प्रकृतिवाले मनुष्यों से बनी हुई है, इसलिए लोग महान् एवं मंगलमय नैतिक विधान के उस रूप पर विश्वास करते हैं जो उनके लिए सबसे उपयुक्त होता है। धर्म इन समस्त सम्प्रदायों को मान्यता प्रदान कर हर्षित होता है, क्योंकि वह इन सबमें एक ही दिव्य तत्त्व को ओतप्रोत पाता है। विभिन्न मार्गों द्वारा एक ही लक्ष्य पर पहुँचा जाता है, किन्तु सम्भव है कि मेरा मार्ग मेरे पश्चिमी पड़ोसी की प्रकृति के अनुकूल न हो।

इसी प्रकार, हो सकता है कि उसका मार्ग मेरी प्रकृति और दार्शनिक चिन्तन-पद्धति के अनुरूप न हो। मेरा धर्म हिन्दूधर्म है। वह बौद्ध सम्प्रदाय नहीं है। बौद्ध तो हिन्दूधर्म के अन्तर्गत एक सम्प्रदाय है। हम कभी धर्म-परिवर्तन का कार्य नहीं अपनाते। हम अपने धर्म के सिद्धान्त दूसरों पर लादने की चेष्टा नहीं करते। हमारे धर्म के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रवृत्ति का वर्जन करते हैं। न ही हम उन प्रचारकों के विरुद्ध कुछ कहते हैं, जिन्हें तुम इस देश से यत्र-तत्र भेजते हो। हम तो उनके संसार के कोने कोने में प्रवेश करने का स्वागत करते हैं। बहुत से लोग हमारे पास खुद होकर आते हैं। हम उन्हें अपने पास लाने के लिए संघर्ष नहीं करते। अपनी विचारधारा को मनवाने के काम के लिए हमारे पास धर्म-प्रचारक नहीं हैं। तथापि बिना हमारे किसी प्रयत्न के हिन्दूधर्म की विभिन्न शाखाएँ आज दूर दूर तक फैल रही है। आखिर 'क्रिश्चियन साइंस', 'थियोसाफी' तथा एडविन अर्नाल्ड का 'लाइट आफ एशिया' क्या है? ये सब हिन्दूधर्म का प्रभाव ही तो दर्शाते हैं। हमारा धर्म अधिकांश धर्मों से पुराना है और ईसाई मत—मैं इसे इसकी संघर्षात्मक विशेषताओं के कारण धर्म नहीं कहता—भी तो सीधे हिन्दूधर्म से प्रादुर्भूत हुआ है। यह उसकी शाखाओं में से एक बड़ी शाखा है। कैथोलिक मत अपने सभी रूप हमसे प्राप्त करता है—पाप-स्वीकार, सन्तों में विश्वास, आदि। एक

कैथोलिक पादरी ने इस पूर्ण समता को देखा था तथा कैथोलिक मत के उद्भव के उपर्युक्त सत्य को स्वीकार किया था, किन्तु वह पदच्युत कर दिया गया, क्योंकि उसने जो कुछ निरीक्षण किया था तथा जिसके ऊपर उसका पूर्ण विश्वास था, उसे एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित करने का दुस्साहस किया था!" (निस्संदेह स्वामीजी का अभिप्राय बिशप ब्रिगेण्डेट द्वारा लिखित 'लाइफ ऑफ बुद्ध' से था।)

"आप अपने धर्म में अज्ञेयवादी को स्थान देते हैं?" प्रश्न किया गया।

"जी हाँ, दार्शनिक अज्ञेयवादी को और जिन्हें आप नास्तिक कहते हैं, उन्हें भी। जब बुद्ध से जिन्हें हम अपना सन्त मानते हैं, उनके किसी अनुयायी ने पूछा, 'क्या ईश्वर है?' उन्होंने उत्तर दिया—'ईश्वर? मैंने ईश्वर की बात कब कही है? मैं कहता हूँ भले बनो और भलाई करो।' हममें से बहुत से लोग दार्शनिक अज्ञेयवादी हैं, जो प्रकृति की प्रत्येक वस्तु में निहित महान् नैतिक नियम तथा अन्तिम पूर्णता में विश्वास करते हैं। लोग जिन मतों में विश्वास करते है, वे सभी के सभी आत्मा की अनन्तता को अनुभव में लाने के प्रयासमात्र हैं।"

"क्या प्रचार-कार्य का अवलम्बन लेना आपके धर्म की मर्यादा के विरुद्ध है?"

इसके उत्तर में पूर्व के इस यात्री ने एक छोटीसी पुस्तक खोली और बहुतसी प्रसिद्ध राजाज्ञाओं में से एक

राजाज्ञा का हवाला देते हुए कहा—"यह ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी गयी थी। मेरे पास इस प्रश्न का यह सबसे अच्छा उत्तर है।"

उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट एवं सुन्दर स्वर में उसे पढ़ा—

"देवताओं के प्रिय महाराज पियदसी (अशोक) सभी सम्प्रदायों का आदर करते हैं, संन्यासियों और गृहस्थ दोनों का। वे भोजन और दूसरे उपहार देकर उन लोगों को तुष्ट करते हैं, किन्तु वे उपहारों और सम्मानों को मूलभूत नैतिक गुणों के उत्थान की अपेक्षा कम महत्त्व देते हैं। यह सत्य है कि विभिन्न सम्प्रदायों में मौलिक गुणों का अस्तित्व भिन्न भिन्न रूपों में है, किन्तु उनमें एक सामान्य आधार विद्यमान है, जैसे शील तथा वाणी में संयम और नैतिकता। अतः किसी को अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए, वरन् प्रत्येक अवसर पर दूसरों को यथा-योग्य सम्मान प्रदान करना चाहिए। ऐसा करने से वह दूसरों की सेवा करता हुआ अपने ही सम्प्रदाय की भलाई करता है। इसके विपरीत करने से वह अपने सम्प्रदाय की सेवा नहीं करता और दूसरों का अपकार करता है। जो मनुष्य अपने सम्प्रदाय के प्रति मोह के कारण तथा उसको ऊँचा उठाने की भावना से प्रेरित होकर दूसरों की निन्दा करता है, वह बस अपने ही सम्प्रदाय पर कुठाराघात करता है। इसलिए केवल मैत्री ही प्रशंसनीय है, ताकि सभी लोग एक दूसरे

के सिद्धान्तों के प्रति सहिष्णु हों और सहिष्णु होना पसन्द करें। इसी उद्देश्य से यह राजाज्ञा लिखी गयी है। सभी लोग चाहे वे जिस दशा में हों, अपने मूलभूत नैतिक सिद्धान्तों के उत्थान के लिए तथा अन्य सभी सम्प्रदायों के प्रति पारस्परिक आदरभाव रखने के लिए प्रोत्साहित हों। इसी उद्देश्य से धर्मोपदेशकों, निरीक्षकों तथा अन्य सभी अधिकारियों को कार्य करना चाहिए।"

इस प्रभावशाली उद्धरण को पढ़कर स्वामी विवेकानन्द ने कहा कि इस बुद्धिमान् राजा ने, जिसने यह राजाज्ञा खुदवायी थी, युद्ध करने से मना किया था, क्योंकि युद्ध की विभीषिकाएँ सभी महान् सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों पर विपरीत प्रभाव डालती हैं। उन्होंने कहा, "इसी कारण भारत ने भौतिक क्षेत्र में हानि उठायी है। जहाँ पाशविक शक्ति और रक्तपात ने दूसरे राष्ट्रों को आगे बढ़ाया है, भारत ने इस प्रकार के पाशविक शक्तिप्रदर्शन की निन्दा की है। यही कारण है कि योग्यतम की विजय के नियम के अनुसार, जो कि राष्ट्रों और व्यक्तियों दोनों के लिये लागू होता है, वह भौतिक अर्थ में दुनिया में एक ताकत के रूप में बहुत पीछे रह गया है।"

"किन्तु क्या युद्धप्रिय इन महान् पश्चिमी देशों के लिए जहाँ उन्नीसवीं सदी की अत्यन्त व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रचण्ड शक्ति की जरूरत है, इस भावना को पाना असम्भव न होगा जो

शान्तिप्रिय भारत में व्याप्त है ?"

वे तेजस्वी आँखें चमक उठीं और उस पूर्वीय बन्धु के मुख पर एक हास की रेखा दौड़ गयी ।

"क्या कोई अपने में सिंह की शक्ति और मेमने के भोलेपन का समन्वय नहीं कर सकता ?" उन्होंने पूछा ।

इसी क्रम में उन्होंने कहा कि सम्भवतः भविष्य में पूर्व और पश्चिम का समन्वय होने को है, एक ऐसा समन्वय जिसके परिणाम अद्भुत होंगे । पश्चिमी राष्ट्रों को प्रशंसा का पात्र बनानेवाला उनका एक महान् गुण है और वह है स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आदरभाव तथा उनके साथ सहृदयतापूर्ण व्यवहार ।

महाप्रयाण के समय बुद्ध के द्वारा कथित शब्दों में उन्होंने कहा, "अपने निर्वाण के लिए स्वयं साधना करो । मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता । तुम्हारी सहायता कोई नहीं कर सकता । अपनी सहायता अपने आप करो ।" 'समन्वय और शान्ति, न कि कलह'— यही उनका आदर्श-वाक्य है ।

विभिन्न मतवादों के पारस्परिक दोषान्वेषणकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने 'कुएँ के मेंढक' की कहानी सुनाते हुए अन्त में कहा— "मैं हिन्दू हूँ । मैं अपने छोटे से कुएँ में बैठा हूँ और सोचता हूँ कि मेरा कुआँ ही दुनिया है । ईसाई अपने छोटे से कुएँ में बैठा है और वही कुआँ उसकी दुनिया है । मुसलमान अपने कुएँ में बैठा है और उसी को सम्पूर्ण दुनिया समझता है । मैं तुम अमेरिकनों

को धन्यवाद देता हूँ कि तुम हमारी इस छोटी दुनिया की दीवारों को तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हो और आशा करता हूँ कि भविष्य में प्रभु तुमको इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायता प्रदान करेंगे !" (क्रमशः)

शरणागति-रहस्य—१

कुमारी सरोजबाला

(प्रखर मेधासम्पन्न इस बालिका का जन्म १ नवम्बर, १९५६ ई. को हुआ है। कहते हैं कि छः वर्ष की उम्र से ही इन्होंने प्रवचन देना आरम्भ कर दिया। आश्रम में इनके कई प्रवचन हो चुके हैं। प्रस्तुत प्रवचन ६-११-१९६९ को दिया गया था, जिसकी पहली किस्त यहाँ प्रकाशित की जा रही है। — सं)

केनोपनिषद् में बताया गया है, "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।" अगर ऐसे अमूल्य मानव-तन को प्राप्त कर हमने अपने जीवन को सफल और आनन्दमय नहीं बनाया, तो यह हमारी सबसे बड़ी भूल होगी। भगवान् वेदव्यास का कहना है कि यह मानव-तन अत्यन्त अमूल्य है और इससे बढ़कर कोई भी शरीर नहीं है— "इति गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्।" आज हमें साक्षात् प्रभु तो दिखायी नहीं पड़ते, पर बड़े-बड़े महापुरुष उन्हीं के साक्षात् प्रतिनिधि हैं। जब हम इन महापुरुषों की शरण में जाएँगे, तब वे हम पर कृपा करेंगे और हमारा जीवन सफल बन जाएगा।

आज का मानव दैहिक अर्थात् जन्म, जरा और मरण; दैविक यानी उत्पत्ति, पालन और लय; और भौतिक अर्थात् त्रि-अवस्था, त्रिगुण और त्रि-शरीर—इन त्रिविध तापों से जल रहा है। जिस तरह गर्मी के दिनों

में धूप में चलते-चलते मानव खिन्न हो जाता है और सघन छायावाले वृक्ष एवं शीतल जल की इच्छा करता है, उसी प्रकार इस संसार के रेगिस्तान में चलनेवाले मानव को यदि कोई शान्ति का स्थान प्राप्त न हो, तो उसका जीवन दुखमय हो जाता है । जब हम इन महापुरुषों की शरण में जाकर अपने वास्तविक लक्ष्य को पहचानेंगे, तभी हमारा जीवन सफल बनेगा । कलियुग में इन महापुरुषों की नीति यह है कि "शान्त विटप सरिता गिरि धरिणी, परहित लाग सबन कै करनी ।" श्रीहर्ष भी कहते हैं — 'सत एवं सतां परार्थः ।' सन्तजन हमारे कल्याण के लिए, हमें भवसागर से निकालने के लिए अनेक प्रकार से शिक्षा और उपदेश देते हैं । लेकिन हमारे हृदय में अनेक प्रकार के बाहरी पटल इतने गहरे पड़ चुके हैं कि हमें उनकी आवाज सुनायी ही नहीं देती । पर ध्यान रखो कि श्रुति कहती है — 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' — उठो, जागो और महापुरुषों की शरण में जाकर अपने स्वरूप को पहचानो । जब तक हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, तब तक हम असली सत्य को नहीं पहचान सकते । पर असली तत्त्व को भी हम तभी पहचानेंगे, जब हम पर महापुरुषों की कृपा होगी । महापुरुषों का सत्संग अत्यन्त दुर्लभ है तथा यह हमें तभी प्राप्त होता है, जब हमारे भाग्य और पुण्य का उदय होता है । तभी तो देवर्षि नारद श्रीमद्भागवत (माहात्म्य अध्याय, २ । ७६) के

अन्तर्गत कहते हैं—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ।।

कवि ने ठीक ही कहा है—

राज मिलै सब साज मिलै गज बाज मिलै मनवांछित पायी,
तात मिलै पुनि मातु मिलै सुत भ्रात मिलै बनिता सुखदायी।
लोक मिलै सुरलोक मिलै विधिलोक मिलै बैकण्ठहु जाई,
सुन्दर साज मिलै सबही पर सन्त समागम दुर्लभ भाई ।।

आज का मानव शान्ति चाहता है और यह शान्ति भौतिक पदार्थों से प्राप्त नहीं हो सकती । अगर भौतिक पदार्थों से ही शान्ति मिलती होती तो बड़े-बड़े सेठ-साहूकार और राजा-महाराजा विरक्त पुरुषों के चरणों में मत्था ही क्यों रगड़ते, नतमस्तक ही क्यों होते ? मतलब यह है कि इस संसार में दुःख ही दुःख भरा हुआ है । महापुरुष हमें सान्त्वना प्रदान करते हैं । इसलिए जब हम उनकी शरण में जाएँ तो नम्र होकर यह प्रार्थना करें — 'पूजा जप तप नेम अचारा, नहि जानत हौं दास तुम्हारा ।' अर्थात् हम उनसे कहें, "भगवन् ! मैं तो पूजा, जप, तप, नियम आदि कुछ भी नहीं जानता । मैं तो आपकी शरण में हूँ । आप मुझे अपना लीजिये ।"

लेकिन इसके पहले हमें श्रद्धा और विश्वास के साथ

भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ेगी कि "भगवन् ! जब आपने सविता-शक्ति के एक छोटे से प्रयोग से इतना बड़ा संसार रच दिया है, जिसमें एक-दो नहीं, बल्कि अरब सूर्य अपने नक्षत्रों, ग्रहों, और मंडलों के साथ विद्यमान हैं, तो हे नाथ ! मेरी छोटीसी बुद्धि को शुभ प्रेरणा प्रदान करने में आपको भला कौनसा परिश्रम उठाना पड़ेगा ?"

जब हम संसार की भोग्य वस्तुओं को छोड़कर प्रभु की शरण में जायेंगे, तो वे हमें अवश्य अपनायेंगे । पर जब तक श्रद्धा और विश्वास नहीं है, तब तक कुछ भी नहीं होगा । श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि एक व्यक्ति विभीषणजी के समीप पहुँचा और बोला-- 'मुझे समुद्र के पार जाना है । मैं क्या करूँ ?' विभीषणजी ने एक कागज में कुछ लिखकर उसके रूमाल में बाँध दिया और कहा -- 'इस पर विश्वास करके समुद्र पार कर लेना । पर ध्यान रखना, अविश्वास न हो । अगर अविश्वास करोगे, तो वहीं डूब जाओगे ।' वह व्यक्ति उस पर विश्वास रखकर पानी में उसी तरह चलने लगा, जैसे हम भूमि पर चलते हैं । जब किनारा कुछ ही दूर रह गया, तो वह विचार करने लगा -- 'देखूँ तो, विभीषणजी ने मेरे रूमाल में ऐसी कौन सी वस्तु बाँध दी है ?' उसने रूमाल खोलकर देखा । कागज में मात्र 'राम'-नाम लिखा हुआ था । उसके हृदय में यह भाव आया कि बस, मात्र यह राम-नाम ही ! अविश्वास

होते ही वह वहीं पर डूब गया। अतएव हममें सच्चा विश्वास और सच्ची श्रद्धा होनी चाहिये।

भगवान् राम तो पुल बाँधकर लंका गये थे, पर श्रद्धा और विश्वास की चिन्मयी मूर्ति हनुमानजी ने लंका जाते समय समुद्र पर पुल नहीं बाँधा, बल्कि उसे लाँघ गये। तभी तो किसी ने कहा है—

सेवक से स्वामी बड़ो जो अति श्रद्धावान।
सेतु बाँध रघुपति गये लाँघि गये हनुमान॥

श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है। गीता में श्रीभगवान् कहते हैं (४।३९)—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

—हे अर्जन! जिसके हृदय में सच्चा विश्वास और सच्ची श्रद्धा होती है, वह मानव ज्ञान की भी प्राप्ति कर लेता है। श्रुति कहती है—'ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः।' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती। अतएव ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। पर वास्तव में ज्ञान क्या है, यह भी समझ लीजिये। ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही ज्ञानयोग है। इसके बिना हमें वास्तविक सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनों का स्वरूप जानना अत्यावश्यक है।

जब तक हम ईश्वर के स्वरूप को नहीं समझेंगे तब तक उनके चरणों में सच्चा विश्वास नहीं जम

सकता और शरणागति से लाभ नहीं हो सकता। हमारे शास्त्रों में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो परम अव्यक्त और अवस्थान्तर-वर्ती है, उसी चेतन को ईश्वर कहते हैं। मतलब? सूक्ष्म व्यक्तावस्था के भीतरी चेतन को ईश्वर यानी आत्मा कहते हैं। यह विद्या-उपाधि से प्रकाशित होता है। जहाँ जीव को कुछ भी न करके सब कुछ करने का बल और शक्ति मिलती है, जो सब कुछ देकर भी दान का बदला कभी नहीं चाहता, जिसकी शरण में जाने से संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है, जो हमसे स्वयं पाप-पुण्य नहीं कराता बल्कि जिसकी सत्ता से हम स्वयं पाप और पुण्य करते हैं, जिसकी शरण में जाने से संसार का किसी तरह का भी भय नहीं रहता तथा संसार के बाह्य दुःख नहीं सता सकते; जिससे हम चाहे जितना भिन्न बने रहें, पर जो वास्तव में हमसे कभी भी भिन्न नहीं होता; जिसमें अपार माधुर्य और अनन्त ऐश्वर्य है——वही ईश्वर है।

श्रुतियों के अन्तर्गत ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है——

पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापनम्।
कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयं॥
ज्ञान-शक्ति-बलैश्वर्यं तेजो वीर्याण्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना देहैर्गुणादिभिः॥

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिंगतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ।।

——जो सारे संसार का भरण एवं पोषण करनेवाला है; जो शरणागत की रक्षा करनेवाला है; जो करुणा का सागर है; अदेह होते हुए भी जिसमें अखण्ड ज्ञान, अपार माधुर्य और अनन्त ऐश्वर्य है; जो स्वयं समस्त संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाला है; जो विद्या और अविद्या की प्रेरणा देनेवाला है; जो मानव को गति और अगति देनेवाला है उसे भगवान् कहते हैं। जैसा कि भगवान् शंकर कहते हैं——

उमा राम की भृकुटि विलासा ।
होय सृष्टि पुनि पावहि नास ।।
निमिष मात्र ब्रह्माण्ड निकाया ।
रचै जासु अनु सासन माया ।।

श्रुतियाँ कहती हैं——

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमेतं सत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रसन्नः ।।
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्व लोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्ति प्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ।।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ।।
भयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ।।

--अर्थात् सत्य जिनका व्रत है, जो सत्यपरायण हैं; जो सत्यस्वरूप हैं; जो संसार के उद्भव-स्थानों में अन्तर्यामी रूप से निहित हैं, सभी स्थान जिनके नेत्र हैं; जो समस्त संसार के ज्ञानस्वरूप, मुक्तिस्वरूप एवं अद्वैतस्वरूप हैं; जो शरण लेने योग्य हैं; जो वरण करने योग्य है, जो सर्वोत्तम पथ के नियन्ता, परे के भी परे और रक्षक के भी रक्षक हैं; जो भय को भी भय देने-वाले हैं और भीषण के लिए भीषण स्वरूप हैं और जो प्राणियों के लिए गतिस्वरूप हैं ।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्
अणोरणीयान् महतो महीयान्
विरजं ब्रह्म निष्कलं तच्छुभ्रं
ज्योतिषां ज्योतिः यदणुभ्योऽणु ।

मतलब ? जो नित्य शाश्वत, सर्वगत आत्मा समस्त संसार में व्याप्त है तथा अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है, उसी का यह सारा पसारा

दीख पड़ता है—

तू पस्ती में बाला में, औ रूबरू है।
बना तू हर एक फूल में, रंगो बू है॥
जो आईना देखा तो तू रूबरू है।
निगह जिस तरफ उठ गयी, तू ही तू है॥

—जिधर भी देखो उधर ईश्वर ही ईश्वर दिखायी देता है।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

—ये सभी लक्षण जिसमें हों, वही ईश्वर है।

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन श्रुतियों ने तो जरूर किया, पर अन्त में यह भी कह दिया कि वास्तव में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन मुँह से नहीं किया जा सकता। श्रीरामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि वेद, शास्त्र, पुराण, श्रुति, स्मृति, षड्दर्शन सभी जूठे हो गये हैं, क्योंकि ये मुँह से उच्चरित हुए हैं। पर केवल एक ही वस्तु जूठी नहीं हुई है और वह है एक परब्रह्म; क्योंकि आज तक कोई भी यह बता नहीं सका कि ब्रह्म कैसा है। वे कहा करते थे कि एक पण्डितजी ने अपने दो लड़कों को ब्रह्मविद्या सीखने के लिये गुरुकुल भेजा। वहाँ ब्रह्मविद्या सीखकर दोनों पुत्र पिता के समीप पहुँचे। पिता ने परीक्षार्थ ज्येष्ठ पुत्र से कहा, "बेटा! तुमने तो अच्छी तरह से ब्रह्मविद्या सीखी है; बताओ, ब्रह्म का स्वरूप क्या है?" वह वेदों की ऋचाओं को कह-कहकर ब्रह्म

के स्वरूप का वर्णन करने लगा। पण्डितजी कुछ नहीं बोले और मौन रह गये। तब उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र से कहा, "बेटा ! अब तुम बतलाओ, ईश्वर का स्वरूप क्या है ?" वह मौन रह गया। उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकला। वह ईश्वर के स्वरूप का वर्णन भला कैसे करे ? पण्डितजी बोले, "बस तुम्हीं ने ब्रह्मविद्या सीखी है !"

तो यह है ब्रह्म का स्वरूप। अब आप थोड़ा जीव का स्वरूप भी समझ लें। हमारे गोस्वामीजी कहते हैं—"ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुख-राशी।" जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर के ही समान चेतन, अमल और सहज सुख की राशि है। भगवान् भी भगवती गीता के अन्तर्गत कहते हैं—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः (१५।७)।"—अर्थात् जीव मेरा ही अंश है। हृदय में रहनेवाला चेतन तत्त्व चित्त के सम्बन्ध से जीव कहलाता है। मतलब यह है कि जो माया से मुक्त है, उसे ईश्वर कहते हैं और जो माया से बँधा है, वह जीव है। ईश्वर और जीव में उपाधि से, विशुद्धता और मलिनता के कारण ही विशेष अन्तर आ गया है। जैसे अगर हम एक स्वच्छ तथा स्थिर जल से भरी हुई कुण्डी और एक मलिन तथा चंचल जल से भरी कुण्डी को धूप में रखें, तो इन दोनों में सूर्य का प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा, पर स्वच्छ और स्थिर जल में पड़कर सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के असली स्वरूप को मानो मिटाकर अपने समान गोल

और प्रकाशमान् बना लेगा। या दूसरे शब्दों में सूर्य का प्रतिबिम्ब जल को अपने वश में कर लेगा। किन्तु उसी सूर्य का प्रतिबिम्ब मलिन और चंचल जल में पड़कर उल्टे उस जल के वश में हो जायेगा, यानी वह उस जल के समान मलिन, चंचल और छिन्न-भिन्न हो जायेगा। बस इसी तरह ब्रह्म भी एक ही है। पर वह अविद्या-माया में पड़कर उसके वश में हो जाता है। इसलिए उसे परतन्त्र, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्मवाला जीव कहते हैं। वही शुद्ध चेतन विद्या-माया में पड़कर, उसे अपने वश में करके समस्त संसार की उत्पत्ति, पालन और संहार करता है। जैसाकि गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—"श्रुति सेतुपालक राम तुम जगदीश माया जानकी। जो सृजति जग पालक हरति दुःख पाय कृपानिधान की।।" मतलब यह है कि यह ब्रह्म, यह शुद्ध चेतन विद्या-माया को अपने वश में कर लेता है। इसीलिए उसे परम स्वतंत्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्मोंवाला ईश्वर कहते हैं।

गोस्वामीजी का कहना है कि 'सो माया बस भयउ गोसाईं, बँध्यो कीर मरकट की नाईं।' मतलब, ईश्वर और जीव में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। यह जीव इस माया के भेद के कारण ही इसके चक्कर में फँसा हुआ है। यह मानव स्वयं होकर संसार और माया को पकड़े हुए है पर कहता है कि 'माया ने मुझे पकड़ लिया है।' जिस तरह से बन्दर और घड़ा। अगर

बन्दर चाहे तो घड़े में फँसी अपनी मुट्ठी को खोलकर भाग सकता है, पर वह कहता है कि 'घड़े ने मुझे पकड़ लिया है !' मतलब यह कि ईश्वर और जीव में माया का ही अन्तर है । अगर माया नष्ट हो जाय, माया का आवरण दूर हो जाय, तो यह जीव अपने आप ईश्वर के समान हो सकता है ।

हमारे कुछ भाई यह मानते हैं कि जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वरस्वरूप है; पर कुछ लोगों का कहना है कि ईश्वर सिन्धु है और जीव बिन्दु, तो भला बिन्दु सिन्धु कैसे हो सकता है ? वास्तव में उनकी यह शंका कुछ अंशों में सत्य भी है । इसलिए आइये, इसका भी समाधान किया जाय । मैं भी कहती हूँ कि बिन्दु सिन्धु नहीं हो सकता, पर पूछती हूँ कि वह बिन्दु है किसका ? है तो सिन्धु का ही न ? फिर उसे सिन्धु बनने की क्या आवश्यकता ? उदाहरणार्थ, अगर हम सिन्धु से एक आचमनी में जल भर लें, फिर उसी सिन्धु से एक कटोरी भर लें और उसी से एक तालाब भर लें, तो आप देखेंगे कि आचमनी में तो बिन्दु मात्र जल है, कटोरी में उसकी अपेक्षा अधिक जल है, तालाब में उसकी अपेक्षा बहुत अधिक जल है, और सिन्धु में तो अगाध ही है । अब आप इन चारों का कार्य देखें । एक राई का छिलका या तिनका लेकर यदि आप आचमनी के जल में डालें, तो वह उसमें उसी तरह तैरने लगेगा, जैसे समुद्र में

बड़े बड़े जहाज तैरते हैं। फिर आप एक छोटीसी लकड़ी लेकर उस कटोरी वाले जल में डालें, तो वह भी उसी तरह तैरने लगेगी। तथा, यदि आप तालाब में छोटी सी नौका डालें, तो वह भी वैसे ही तैरने लगेगी। तो अब आप अपनी कुशाग्र बुद्धि से यह समझिये कि आचमनी, कटोरी, तालाब और सिन्धु में एक ही जल है और इन चारों में पानी के धरातल पर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार सभी पदार्थ तैरते हैं। लेकिन यदि आप ऐसा कहें कि जब इन चारों में सिन्धु का जल है, तब जो सिन्धु का कार्य है, वही कार्य इन तीनों का क्यों नहीं है?——तो आप देखेंगे कि छोटे आधार में थोड़ा जल है और वहाँ कार्य भी छोटा होता है। अर्थात् उसमें राई का छिलका या तिनका ही तैरता है। मध्यम आधार में मध्यम जल है, इसलिए उसका कार्य भी मध्यम है, यानी लकड़ी या नाव वहाँ तैरती है। पर बड़े आधार में बहुत अधिक जल होता है, इसलिए वहाँ कार्य भी बहुत अधिक होता है। मतलब, उसमें बड़े बड़े जहाज तैरते हैं।

इसी प्रकार यदि आप कहें कि जब जीव ईश्वर के रूप हैं, तो जो काम ईश्वर करता है वही काम जीव क्यों नहीं करते; तो उपर्युक्त उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव को आधार के अनुसार ही शक्ति मिलती है। इसी तरह, जहाँ ईश्वर प्रकट होता है, वहाँ वह पूर्ण रूप से ही प्रकट होता है, लेकिन उसके

प्रकट होने के आधार के छोटा-बड़ा होने के कारण वह छोटा-बड़ा दिखायी देता है। वह अल्प परमाणु में न तो अल्प परिमाण में है और न महत् परमाणु में महत् परिमाण में। लेकिन जब वह छोटे रूप या छोटे आधार में प्रकट होता है तो वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् दिखायी देता है और जब वह बड़े आधार में प्रकट होता है तो वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् दिखता है। ईश्वर औरजीव में कोई अन्तर नहीं है। केवल आधार भेद के कारण उनमें पृथकता दिखायी देती है।

'अध्यात्म रामायण' इस बात की घोषणा करते हुए कहती है--

स्थूलं सूक्ष्मं कारणाख्यमुपाधित्रितयं चितेः।
एभिर्विशिष्टो जीवः स्याद् विमुक्तः परमेश्वरः।।

--अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण--ये तीन शरीर आत्मा की उपाधियाँ हैं। जब यह आत्मा शरीर के साथ एकात्म भाव का, अर्थात् "मैं स्वयं शरीर हूँ" ऐसा अनुभव करता है, तब वह जीवपने को प्राप्त होता है। पर महापुरुषों की शरण में जाने से और उनके सत्संग से जीव को अपने असली स्वरूप का ज्ञान होता है। फिर तो वह ईश्वर बना बनाया है, उसे ईश्वर बनने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे अपने असली स्वरूप की जो विस्मृति हो गयी थी, उसकी निवृत्ति हो जाने के बाद उसे असली स्वरूप की स्मृति हो जाती है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस का यही कहना था। एक बार एक शेरनी बच्चे को जन्म देते ही मर गयी। तब एक गड़रिया जो भेड़-बकरों को चराया करता था, उस बच्चे को ले आया। वह शेर का बच्चा उन्हीं भेड़-बकरों के साथ चरता-फिरता और यदि बक़रे 'में' 'में' करते तो वह भी 'में' 'में' करता। ऐसा करते करते बहुत दिन व्यतीत हो गये। एक दिन एक शेर उन भेड़-बकरों पर झपटा। भेड़-बकरे भागने लगे और शेर का बच्चा भी भागने लगा। जब उस शेर ने उसे देखा तो उसने विचार किया—'यह तो मेरे ही समान है। यह इनके साथ कहाँ फिर रहा है?' जैसे-तैसे जबरदस्ती करके वह शेर के उस बच्चे को नदी के किनारे ले गया और बोला—'देख पानी में अपनी परछाईं, और जान ले कि जो मेरा स्वरूप है वही तेरा भी स्वरूप है।' जब शेर के बच्चे ने अपना प्रतिबिम्ब देखा तो उसे अपने असली स्वरूप का ज्ञान हुआ और उसे तुरन्त यह विचार आया कि 'अरे, मैं तो शेर हूँ।' फिर तो उसने बड़े जोर से गर्जना की और उन्हीं पर झपटा जिनके साथ वह चलता-फिरता था। तो जैसे शेर का यह बच्चा शेर बना-बनाया ही था, उसे शेर बनने की आवश्यकता नहीं हुई, वैसे ही यह जो चेतन ब्रह्म देहादि भावनाओं के कारण जीवपने को प्राप्त हुआ है, उसे महापुरुषों की शरण में जाने से अपने असली स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। (क्रमशः)

●

प्रश्न-- (१) क्या राग-द्वेष जीवन के अभिन्न अंग हैं? क्या उनका निराकरण किया जा सकता है? यदि हाँ, तो किस प्रकार? (२) क्या हमारे नाते-रिश्ते चिरस्थायी हैं? क्या उनका सम्बन्ध हमारे भूत या भविष्यकालीन जीवन से है? (३) अच्छे और बुरे, पुण्य और पाप की क्या व्याख्या और पहचान है?

--सेठ गोविन्ददास, संसद्-सदस्य

उत्तर-- (१) व्यावहारिक सत्य यानी देह-मन के स्तर पर ये राग-द्वेष जीवन के अभिन्न अंग ही कहे जाते हैं। पर चूंकि भारत में आदर्श पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति रहा है, इसलिये सत्यानुभूति की अवस्था में ये राग-द्वेष जीवन से पूरी तरह निकल जाते हैं। सत्य की अनुभूति की अवस्था से व्यवहार की अवस्था में आने पर मनुष्य संसार में जब वर्तन करता है, तब राग-द्वेष उसके जीवन में पुनः दिखायी-से देते हैं, पर ये राग-द्वेष मानो पानी पर खींची गयी लकीर-से होते हैं, जली हुई रस्सी-से होते हैं, पारस का स्पर्श पाकर बननेवाली सोने की तलवार-से होते हैं। पानी पर खींची लकीर दिखती है और क्षण भर बाद ही मिट जाती है। जली रस्सी का आकार ठीक रस्सी का ही

दिखता है, पर बाँधने में समर्थ नहीं है। तलवार सोने की बन गयी तो काटने का काम नहीं कर पाती। ज्ञानी का राग-द्वेष ऐसा ही होता है।

राग-द्वेष का निराकरण ज्ञान के अभ्यास और सतत चिन्तन-मनन के द्वारा किया जा सकता है। यह अभ्यास भी योग के ही अन्तर्गत आता है।

(२) नाते-रिश्ते चिरस्थायी नहीं हैं। भूत या भविष्य-कालीन जीवन से उनका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। सम्भव है, जो पिछले जीवन में हमारी पत्नी रही हो, वह इस जीवन में हमारी माता बन जाय और अगले जन्म में हमारी कन्या। सम्भव है, पिछले जन्म का हमारा घोर शत्रु इस जन्म में हमारा पुत्र बन जाय और हमें सदैव पीड़ित करता रहे। सम्भव है, पिछले जन्म में हमने किसी को अपने व्यवहार से शोकाकुल किया हो, तो वह इस जन्म में पुत्र बनकर, अकाल कालकवलित हो हमें शोकसागर में निमग्न कर दे। इस प्रकार के सम्बन्ध सम्भव हैं। इसलिये ज्ञान और विचार द्वारा अपने आत्मीयों के प्रति निर्लिप्तता का भाव पोषित करना चाहिये।

(३) अच्छे-बुरे या पुण्य-पाप की पहचान बताना जटिल है। मोटी परिभाषा यों दी जा सकती है--"हम जिस बात की अपेक्षा अपने लिये दूसरों से करते हैं, वही हम दूसरों के प्रति करें, तो वह अच्छा या पुण्य की श्रेणी में आता है। हम दूसरों से अपने प्रति जो नहीं चाहते, वही अगर हम दूसरों से करें, तो वह बुरा या पाप की कोटि में आता है।

आश्रम समाचार

(१ दिसम्बर १९७१ से २९ फरवरी १९७२ तक)

१ विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग-- आलोच्य ३ महीने की अवधि में कुल १५,११३ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी, जिनमें ४,८४३ रोगी नये थे। इनमें क्रानिक उदररोग से पीड़ितों की संख्या १०१ थी। १,७०३ इंजेक्शन लगाये गये। ६३ दन्तरोगियों में से ११ रोगियों के दाँत निकाले गये। आँखों के रोगी--१३१। स्त्री-रोग से रुग्ण--१२५। एक्स-रे स्क्रीनिंग-- १५०। बेरियम स्टडीज--६६। छाती- ७०। एक्स-रे फिल्म- ५४। रिफ्रैक्शन्स- ३१। सिगमोइडोस्कोपी- १२। रक्त-मल-मूत्र परीक्षण- २६४ नमूने। ब्लड शुगर- ३। ब्लड ग्लूकोज- ७। वी. डी. आर. एल.- ६। इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम- १। कान-नाक-गला- ८८। अस्थिरोग- ३१।

इस अवधि में आर्थोपीडिक (अस्थिरोग) विभाग प्रारम्भ किया गया जो प्रति सोमवार कार्य करता है।

होमियोपैथी विभाग-- इस विभाग द्वारा ३,६९१ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया, जिनमें ९०५ रोगी नये थे।

२. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

२९ फरवरी को पुस्तकों की कुल संख्या १५,·९४ थी। इस बीच ४,१९१ पुस्तकें निर्गमित हुईं। वाचनालय में पाठकों को ११२ पत्र-पत्रिकाएँ और समाचार-पत्र उपलब्ध हुए। इस अवधि में लगभग १८,००० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

३. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग-- रविवासरीय गीताप्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने १९, २६ दिसम्बर, २३ जनवरी औ

६ फरवरी को गीता पर प्रवचन दिये। अब तक गीता पर उनके १२२ प्रवचन हो चुके हैं।

५ दिसम्बर, ३० जनवरी और २७ फरवरी को श्री प्रेमचन्द जंस की रामायण-कथा हुई। १३ और २० फरवरी को ब्रह्मचारी अशोक ने 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' पर प्रवचन दिया।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम

१ दिसम्बर को 'मिरर' नामक अँगरेजी मासिक पत्रिका के सम्पादक श्री एम. डी. जापेथ ने The Role of Religion in Precept and Practice इस विषय पर मननीय और सारगर्भित भाषण दिया।

२६ जनवरी को गोस्वामी श्री मथुरेश्वरजी महाराज ने 'भागवत धर्म' पर सरस और भावपूर्ण प्रवचन दिया। सभा की अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की।

आश्रम-कार्यकर्ताओं के अन्यत्र कार्यक्रम

स्वामी आत्मानन्द-- १ दिसम्बर को स्वामीजी कोरबा में थे। भारत एल्यूमीनियम कार्पोरेशन के जनरल मैनेजर श्री जी. के. मोघे की अध्यक्षता में 'गीताप्रतिपादित व्यावहारिक वेदान्त' पर सुबह ८ बजे उनका भाषण हुआ। ५ बजे शाम हंगेरियन एक्सपर्ट्सों की सुविधा के लिये एक विशेष गोष्ठी आयोजित की गयी जिसमें स्वामीजी ने उनके द्वारा पूछे गये विभिन्न प्रश्नों के उत्तर दिये। ६ बजे सन्ध्या मध्यप्रदेश विद्युत् मंडल कोरबा के तत्त्वावधान में उन्होंने 'वेदान्त की व्यावहारिकता' पर व्याख्यान दिया और ७॥ बजे सन्ध्या पुनः बाल्को में श्री मोघे की अध्यक्षता में 'स्वामी विवेकानन्द और नव वेदान्त' पर उनका भाषण हुआ। ४ से ८ दिसम्बर तक वेदान्त सत्संग मंडल, बम्बई द्वारा आयोजित अखिल भारतीय वेदान्त सम्मेलन में भाग लेते हुए 'वेदान्त' पर पांच व्याख्यान दिये। १२ दिसम्बर को सैक्रामेन्टो (कैलिफोर्निया) की

वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज के साथ गीता स्वाध्याय मंडल, रायपुर में तथा १३ दिसम्बर को श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर में कार्यक्रम हुए। १६ दिसम्बर को सन्ध्या ६ बजे स्वामी आत्मानन्द का कोंडागाँव क्लब में भाषण हुआ। सन्ध्या ७ बजे वहीं राममन्दिर में। १७ दिसम्बर को शासकीय महाविद्यालय, जगदलपुर के छात्रों को सम्बोधित किया। उसी सन्ध्या ६ बजे भारत की पाकिस्तान पर विजय के उपलक्ष में भरी सभा की अध्यक्षता करते हुए 'हमारा वर्तमान कर्तव्य' इस पर विचार व्यक्त किये। १९ दिसम्बर को गीतास्वाध्याय मंडल, रायपुर में। ३१ दिसम्बर को विश्व अध्यात्म परिषद् बिलासपुर में। १ जनवरी को श्रीरामकृष्ण सेवा समिति, बिलासपुर में कल्पतरु उत्सव। उसी दिन सन्ध्या ६ बजे श्री जगदीशचन्द्र ऋषि के निवास पर अध्यात्म-गोष्ठी और रात्रि ८ बजे विश्व अध्यात्म परिषद्, बिलासपुर में। १६ जनवरी को सरस्वती शिशु मन्दिर, रायपुर के वार्षिकोत्सव में प्रमुख अतिथि। २४ जनवरी को शासकीय महाविद्यालय, शहडोल के स्नेह-सम्मेलन का उद्घाटन। २९ जनवरी से ४ फरवरी तक चिरमिरी, सूरजपुर और बैकुण्ठपुर में प्रवचन।

१८, १९ और २० फरवरी को रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना (बिहार) के श्रीरामकृष्ण-जयन्ती-महोत्सव में सम्मिलित होकर क्रमशः 'श्रीरामकृष्णजीवनी', 'विवेकानन्द जीवनी' (बँगला में) और 'दैनिक जीवन में वेदान्त' इन विषयों पर व्याख्यान दिये। अन्तिम दिन के कार्यक्रम की अध्यक्षता बिहार के चीफ जस्टिस माननीय श्री सिन्हा ने की तथा वहाँ के राज्यपाल माननीय श्री बरुआ प्रमुख अतिथि रहे। २० फरवरी को ही अपराह्न में विवेकानन्द अकादमी, पटना के तत्त्वावधान में 'स्वामी विवेकानन्द और भारत' पर भाषण। २१ फरवरी को रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद में 'गीता से मैंने क्या सीखा है' इस विषय पर प्रवचन। २२ फरवरी को अवधेशप्रतापनारायणसिंह

विश्वविद्यालय, रीवा के तत्त्वावधान में १० बजे सुबह 'राष्ट्रीय चरित्र निर्माण' पर, ४ बजे मेडिकल कालेज में 'चिकित्सा सेवा का राष्ट्रोत्थान में योगदान' पर तथा सन्ध्या ५।। बजे टाउन हाल में 'नैतिक मूल्यों का जीवन में महत्त्व' पर व्याख्यान हुए। २५ और २६ फरवरी को रामकृष्ण मिशन कानपूर के तत्त्वावधान में विवेकानन्द स्मारक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत 'नरेन्द्र से विवेकानन्द' एवं 'विवेकानन्द-दर्शन' इन विषयों पर व्याख्यान हुए। २७ फरवरी को उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्ता की अध्यक्षता मे हुई जनसभा को 'श्रीरामकृष्ण-आविर्भाव की अपूर्वता' पर सम्बोधित किया। इस अवसर पर रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम लखनऊ के सचिव स्वामी श्रीधरानन्दजी ने भी श्रोताओं को अँगरेजी में सम्बोधित किया।

श्री माँ सारदा जयन्ती

९ दिसम्बर को परमाराध्या श्री माँ सारदा देवी का ११९ वाँ जयन्ती-महोत्सव सोल्लास मनाया गया। प्रातः ५।। बजे मंगल-आरती से उत्सव प्रारम्भ हुआ तथा १२।। बजे दिन तक भजन-संगीत-कीर्तन-प्रार्थना, होम और प्रसाद-वितरण के कार्यक्रम होते रहे। सन्ध्या-आरती के पश्चात् पुनः भजन-संगीत के कार्यक्रम हुए। १२ दिसम्बर को सन्ध्या इसी उपलक्ष में एक सार्वजनिक सभा हुई जिसकी अध्यक्षता सैक्रामेन्टो (कैलिफोर्निया) स्थित वेदान्त सोसायटी के अध्यक्ष स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज ने की। इस अवसर पर लाहिड़ी महाविद्यालय, चिरमिरी की प्राध्यापिका कुमारी अजिता चटर्जी, बी. एड. प्रशिक्षणार्थिनी कु. कुमुद वैष्णव, चिरमिरी महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सुविमल चटर्जी तथा दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर की प्राध्यापिका श्रीमती निवेदिता गुप्ता ने क्रमशः 'तपस्विनी श्री माँ', 'मातृत्व की

साकार प्रतिमा श्री माँ', 'भक्तवत्सला श्री माँ' तथा 'परमा प्रकृति श्री माँ' इन पक्षों पर विचार व्यक्त किये ।

विवेकानन्द जयन्ती समारोह

स्वामी विवेकानन्द का ११० वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम-प्रांगण में अत्यन्त धूमधाम पूर्वक १ जनवरी से २० जनवरी तक मनाया गया । १ से ८ जनवरी तक माध्यामिक शालाओं, उच्च-तर माध्यमिक विद्यालयों और महाविद्यालयों के विद्यार्थियों के लिये विभिन्न प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया था; जैसे--पाठावृत्ति, वाद-विवाद और भाषण प्रतियोगिताएँ । इन सभी प्रतियोगिताओं में प्रथम दो विजेता प्रतियोगियों के लिये व्यक्तिगत पुरस्कार और विजयी संस्था के लिये रनिंग शील्ड रखे गये थे ।

७ जनवरी को स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथि थी । उस दिन प्रातः ५॥ बजे से १२॥ बजे तक विशेष पूजा, हवन-होम तथा भजन-संगीत-प्रार्थना आदि के कार्यक्रम चलते रहे ।

९ जनवरी को भारत के उपराष्ट्रपति महामहिम श्री गोपाल स्वरूप पाठक ने श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के आदमकद तैल-चित्रों का अनावरण करते हुए, औपचारिक रूप से विवेकानन्द जयन्ती समारोह का उद्घाटन किया । अपने प्रेरक व्याख्यान में उन्होंने स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश का मूल्यांकन करते हुए उनकी स्मृति में भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की । उनका समूचा भाषण इसी अक में अन्यत्र प्रकाशित है ।

सर्वप्रथम आश्रम के साधु-ब्रह्मचारियों द्वारा वैदिक पाठ हुआ । तत्पश्चात् अतिथियों का स्वागत करते हुए स्वामी आत्मानन्द ने आश्रम का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तथा प्रस्तावित

मन्दिर के निर्माण की योजना रखी। फिर उपराष्ट्रपति महोदय ने उक्त दोनों चित्रों का अनावरण कर उद्घाटन-भाषण प्रदान किया। इसके उपरान्त 'नागपुर टाइम्स' नामक सुप्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक के संचालक एवं प्रमुख सम्पादक श्री अनन्त गोपाल शेवड़े ने समारोह के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए स्वामी विवेकानन्द

उपराष्ट्रपति महोदय उद्घाटन-भाषण देते हुए।

पर सारगर्भित और ओजस्वी विचार व्यक्त किये। उनका यह भाषण भी इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित है। तत्पश्चात् उपराष्ट्रपति महोदय ने विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेता प्रतियोगियों

आश्रम के धर्मार्थ औषधालय में श्री एवं श्रीमती पाठक तथा केन्द्रीय राज्यमंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल।

को पुरस्कार प्रदान किया। अन्त में आभार-प्रदर्शन के बाद कार्यक्रम समाप्त हुआ।

इस अवसर पर श्रीमती पाठक तथा केन्द्रीय सुरक्षा-उत्पादन राज्य मंत्री श्री विद्याचरण शुक्ल विशेष अतिथि के रूप से उपस्थित थे। यह उल्लेखनीय है कि इस अवसर पर स्वामी आत्मानन्द के आह्वान पर उदारचेता व्यक्तियों ने मन्दिर के निर्माण के लिये लगभग छप्पन हज़ार रुपये के दान की घोषणाएँ कीं। लगभग सात हज़ार व्यक्तियों ने इस कार्यक्रम का आनन्द लिया।

१० जनवरी को 'स्वर्गस्थ राष्ट्रवादियों का स्वगत आलाप' इस नाम से एक रोचक परिसंवाद का आयोजन किया गया था, जिसमें १० आत्माओं ने भाग लिया। विषय था 'मेरे सपनों का भारत'। इस अवसर पर प्रा. व्ही. पार्थसारथि, ब्रह्मचारी देवेन्द्र, प्रा. निवेदिता गुप्ता, ब्रह्मचारी सन्तोष, कु. कुमुद वैष्णव, प्रा. सरयूकान्त झा, प्रा. कनककुमार तिवारी, डॉ. नरेन्द्रदेव वर्मा तथा श्री शारदाप्रसाद तिवारी ने क्रमशः राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनी बेसेन्ट, बाल गंगाधर तिलक, भगिनी निवेदिता, मोहनदास कर्मचन्द गाँधी, सुभाषचन्द्र बोस, अरविन्द घोष तथा जवाहरलाल नेहरू की आत्माओं का प्रतिनिधित्व करते हुए ओजस्वी वाणी के द्वारा भारत के सम्बन्ध में सँजोये अपने सपनों को मूर्त रूप प्रदान किया। परिसंवाद की अध्यक्षता स्वामी आमानन्द के आधार में स्वामी विवेकानन्द ने की।

११ से १७ जनवरी तक भारत के सुप्रसिद्ध रामायणी पं. रामकिंकरजी उपाध्याय के अत्यन्त भावपूर्ण और मनोहारी रामायण-प्रवचन हुए। १८ से २० जनवरी तक विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न कुमारी सरोजबाला तथा विरागीजी महाराज के प्रवचन एवं कीर्तन हुए।

प्रतिदिन श्रोताओं की भीड़ बढ़ती ही जाती थी और अन्त के कुछ दिनों में तो वह बारह हजार को भी पार कर गयी !

इस समारोह के अवसर पर आश्रम द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा निधि को रु. १,३२७) ७० (रुपये एक हजार तीन सौ सत्ताइस पैसे सत्तर) की राशि अर्पित की गयी ।

श्रीरामकृष्ण जयन्ती समारोह

१६ फरवरी को भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का १३७ वाँ जन्म-महोत्सव अत्यन्त उल्लासपूर्ण वातावरण में मनाया गया । जन्मतिथि के उपलक्ष में प्रातः ५॥ बजे से १२॥ बजे तक विशेष पूजा-आरती, भजन-संगीत, होम-हवन और प्रसाद-वितरण आदि कार्यक्रम चलते रहे । सन्ध्या स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा आयोजित की गयी । इस अवसर पर प्रा. निवेदिता गुप्ता, ब्रह्मचारी अशोक, ब्रह्मचारी देवेन्द्र एवं डॉ. नरेन्द्र देव वर्मा ने क्रमशः 'भक्तियोगी श्रीरामकृष्ण', 'ध्यानयोगी श्रीरामकृष्ण','ज्ञानयोगी श्रीरामकृष्ण' तथा कर्मयोगी श्रीरामकृष्ण'--इन विषयों पर चर्चा की ।

●

विवेकानन्द विद्यार्थी भवन के छात्रों की हस्तलिखित पत्रिका का अवलोकन करते हुए श्री एवं श्रीमती पाठक ।

उपराष्ट्रपति महोदय द्वारा पुरस्कार-वितरण ।